माणिकचन्द्र-दिगम्बर-जैनग्रन्थमालायाः
षड्विंशतितमो ग्रन्थः ।



श्रीमद्राजमल्लविरचिता

लाटीसंहिता ।

साहित्यरत्न पण्डित दरबारीलाल न्यायतीर्थेन
सम्पादिता संशोधिता च ।

प्रकाशिका–
श्रीमाणिकचन्द्र-दिगम्बर-जैन-
ग्रन्थमाला-समितिः ।

कार्तिक, वीर निर्वाण सं० २४६४

वि० सं० १९९४

प्रथमावृत्तिः] [मूल्यमाणकैकरूप्यकं

प्रकाशक
नाथूराम प्रेमी, मन्त्री,–
श्रीमाणिकचन्द–दिगम्बर–
जैनग्रन्थमालासमिति,
हीराबाग, पो० गिरगांव–बम्बई।



सुप्रसिद्ध शास्त्रदानी,

जिनवाणीभक्त,

श्रीमान् लाला उम्मेदसिंह मुसद्दीलालजी

अमृतसरनिवासीकी

स्वर्गीया साध्वी धर्मपत्नीके

स्मरणार्थ।

ग्रन्थकर्त्ताका परिचय।

इस ग्रन्थके रचयिताके विषयमें इस ग्रन्थसे और इसकी प्रशस्तिसे बहुत कुछ परिचय मिल जाता है।

अनुमान है कि पंचाध्यायी भी इन्हींकी बनाई हुई है। इसके विषयमें प्रसिद्ध साहित्यसेवी प० जुगलकिशोरजी मुख्तारने एक लेख 'वीर' नामक पत्रके वर्ष ३ अंक १२–१३ में प्रकाशित कराया है, उसको हम यहाँ उद्धृत कर देना आवश्यक समझते हैं।

"कवि राजमल्ल और पंचाध्यायी।

जैन ग्रन्थोंमें 'पञ्चाध्यायी' नामका एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ, आजसे ३० वर्ष पहले प्रायः अप्रसिद्ध था–कोल्हापुर, अजमेर आदिके कुछ थोड़ेसे ही भंडारोंमें पाया जाता था और बहुत ही कम विद्वान् इससे परिचित थे। शक संवत् १८२८ (वि० सं० १९६३) में गांधी नाथारंगजीने इसे कोल्हापुरके 'जैनेन्द्र मुद्रणालय' में छपाकर प्रकाशित किया, तभीसे यह ग्रन्थ विद्वानोंके विशेष परिचयमें आया, विद्वद्वर्य पं० गोपालदासजीने इसे अपने शिष्योंको पढ़ाया, पं० मक्खनलाल-जीने इसपर भाषाटीका लिखी, और इस तरह पर समाजमें इसका प्रचार उत्तरोत्तर बढ़ा। अपने नाम परसे–ग्रन्थके आदिमें मङ्गलपद्यमें प्रयुक्त हुए 'पंचाध्यायावयवं' इस विशेषण पद परसेभी–यह ग्रन्थ पाँच अध्यायोंका समुदाय जान पड़ता है। परन्तु इसवक्त जितना उपलब्ध है उसे अधिकसे अधिक डेढ़ अध्यायके करीब कह सकते है, और यह भी हो सकता है कि वह एक अध्याय भी पूरा न हो। क्योंकि ग्रन्थमें अध्या-य विभागको लिये हुए कोई सन्धि नहीं है और न पाँचों अध्यायोंके नामोंको ही कहीं [illegible] सूचित किया है। शुरूमें 'द्रव्यसामान्यनिरूपण'

नामका एक प्रकरण प्रायः ७७० श्लोकोंमें समाप्त किया गया है, उसे यदि एक अध्याय माना जाय तो यह ग्रन्थ डेढ़ अध्यायके करीब है और यदि अध्यायका एक अंश (प्रकरण) माना जाय तो इसे एक अध्यायसे भी कम समझना चाहिये । बहुत करके वह प्रकरण अध्यायका एक अंश ही जान पड़ता है, दूसरा-द्रव्यविशेषनिरूपण नामका-अंश उसके आगे प्रारम्भ किया गया है जो, ११४५ श्लोकोंके करीब होनेपर भी अधूरा है । परन्तु वह आद्य प्रकरण एक अंश हो या पूरा अध्याय हो-कुछ भी सही-इसमें सन्देह नहीं कि प्रकृत ग्रन्थ अधूरा है-उसमें पाँच अध्याय नहीं हैं-और इसका कारण ग्रन्थकारका उसे पूरा न कर सकना ही जान पड़ता है । मालूम होता है ग्रन्थकार महोदय इसे लिखते हुए अकालमें ही कालके गालमें चले गये हैं और इसीसे यह ग्रंथ अपनी वर्तमान स्थितिमें पाया जाता है-उसपर ग्रन्थकारका नाम तक भी उपलब्ध नहीं होता । अस्तु; जबसे यह ग्रन्थ प्रकट हुआ है तबसे जनता इस बातके जाननेके लिये बराबर उत्कंठित है कि यह ग्रन्थ कौनसे आचार्य अथवा विद्वान्का बनाया हुआ है और कब बना है । परन्तु विद्वान् लोग अभीतक इस विषयका कोई ठीक निर्णय नहीं कर सके और इसलिये जनता बराबर अँधेरेमें ही चली जाती है । ग्रन्थकी प्रौढ़ता, युक्तिवादिता और विषय-प्रतिपादन-कुशलताको देखते हुए, कुछ विद्वानोंका इस विषयमें ऐसा खयाल रहा है कि यह ग्रन्थ शायद पुरुषार्थसिद्ध्युपायादि ग्रन्थोंके कर्ता श्रीअमृतचन्द्राचार्यका बनाया हुआ हो । पं० मक्खनलालजी शास्त्रीने तो इसपर अपना पूरा विश्वास ही प्रकट कर दिया और पंचाध्यायी-भाषाटीका-की अपनी भूमिकामें लिख दिया कि "पंचाध्यायीके कर्ता अनेकान्तप्रधानी आचार्यवर्य अमृतचन्द्र सूरि ही हैं ।" परन्तु वास्तवमें बात ऐसी नहीं है, और न अमृतचन्द्राचार्यको इस ग्रन्थका कर्ता माननेके लिये कोई युक्तियुक्त अथवा समर्थ कारण ही प्रतीत होता है । यह ग्रन्थ अमृतचन्द्राचार्यसे बहुत पीछेका-शताब्दियों बादका-बना हुआ है और इसके कर्ता, खोज करनेपर, 'कवि राजमल्ल'

किसी तरह पर भी क्षेपक—बादको मिलाई हुई—नहीं हो सकती, क्योंकि ग्रन्थकारने अगले ही पद्यमें उसके उद्धरणको स्वयं स्वीकार तथा घोषित किया है और वह पद्य इस प्रकार है:—

उक्तगाथार्थसूत्रेऽपि प्रशमादिचतुष्टयम्।
नातिरिक्तं यतोऽस्त्यत्र लक्षणस्योपलक्षणम् ॥ ४६७ ॥

इस पद्यपरसे यह स्पष्ट जाना जाता है कि ग्रन्थकारने उक्त गाथाको उद्धृत करके उसे अपने ग्रन्थका एक अंग बनाया है और उसके विषयका स्पष्टीकरण करने अथवा अपने कथनके साथ उसके कथनका सामंजस्य स्थापित करनेका यहींसे उपक्रम किया है—अगले कई पद्योंमें इसी विषयकी चर्चा कीगई है—फिर उक्त गाथाको क्षेपक कैसे कहा जा सकता है? अस्तु यह तो हुआ अमृतचन्द्राचार्यके द्वारा प्रकृत ग्रन्थके न रचे जाने आदि विषयक सामान्य विचार, अब ग्रन्थके वास्तविक कर्ता और उसके निर्माणसमयसम्बन्धी विशेष विचारको लीजिये।

ऊपर यह जाहिर किया जा चुका है कि 'लाटीसंहिता' नामका भी एक ग्रंथ है। यह संस्कृत भाषामें श्रावकाचार-विषयका एक सामसर्गात्मक ग्रन्थ है और इसकी पद्यसंख्या १६०० के करीब है। इस ग्रन्थके साथ जब पंचाध्यायीकी तुलनात्मक दृष्टिसे आन्तरिक जाँच की जाती है तो यह मालूम होता है कि ये दोनों ग्रन्थ एक ही विद्वानकी रचना हैं। दोनोंकी कथनशैली, लेखन-प्रणाली अथवा रचना-पद्धति एक जैसी है; ऊहापोहका ढंग, पदविन्यास और साहित्य भी दोनोंका समान है; पंचाध्यायीमें जिस प्रकार किंच, ननु, अथ, अपि, अर्थात्, अयमर्थः, अयंभावः, एव, नैवं, मैवं, नोह्यं, न चाशङ्क्यं, चेत्, नो चेत्, यतः, ततः, अत्र, तत्र, तद्यथा, इत्यादि शब्दोंके प्रचुर प्रयोगके साथ विषयका प्रतिपादन किया गया है, उसी तरह वह लाटीसंहितामें भी पाया जाता है। संक्षेपमें, दोनों ग्रन्थ एक ही लेखनी, एक ही टाइप और एक ही टकसालके जान पड़ते हैं। इसके सिवाय, दोनों ग्रन्थोंमें सैकड़ों पद्य भी प्रायः एक ही पाये जाते हैं और उनका खुलासा इस प्रकार है:—

(क) लाटीसंहिताके तीसरे सर्गमें, सम्यग्दृष्टिके स्वरूपका निरूपण करते हुए, 'ननूल्लेस किमेतावान्' इत्यादि पद्य नं० ३४(मुद्रितमें २७)से 'तद्यथा सुखदु:खादि' इस पद्य नं० ६०(मुद्रितमें ५४)तक जो २७ पद्य दिये हैं वे वे ही हैं जो पंचाध्यायी टीकाके उत्तरार्धमें नं० ३७१ से ३९९ तक और मूल प्रतिमें नं० ३७४से ४०१तक दर्ज हैं। इसी तरह ६१(मुद्रितमें ५५)वें नम्बरसे १२६ मुद्रितमें ११६वें नं० तकके ६६ पद्य भी प्रायः वे ही है जो सटीक प्रतिमें नं० ४१० से ४७६ तक और मूल प्रतिमें ४१२ से ४७९ तक पाये जाते हैं। हाँ, 'अथानुरागशब्दस्य' नामका पद्य नं० ४३५ (४३७) पंचाध्यायीमें अधिक है। हो सकता है कि वह लेखकोंसे छूट गया हो, लाटीसंहिताके निर्माण-समय उसकी रचना ही न हुई हो या ग्रन्थकारने उसे लाटीसंहितामें देनेकी जरूरत ही न समझी हो। इनके सिवाय, इसी सर्गमें, नं० १६१ मुद्रितमें १५२ से १८२ मुद्रितमें १७३ तकके २२ पद्य और भी हैं जो पंचाध्यायी (उत्तरार्द्ध) के ७२१ (७२५) से ७४२ (७४६) नम्बर तकके पद्योंके साथ एकता रखते हैं।

(ख) लाटीसंहिताका चौथा सर्ग, जो आशीर्वादके बाद 'ननु सुदर्शनस्यैतत्' पद्यसे प्रारम्भ होकर 'उक्त: प्रभावनांगोऽपि' पद्यपर समाप्त होता है, ३२३ पद्योंके करीबका है। इनमेंसे नीचे लिखे दो पद्योंको छोड़कर शेष सभी पद्य पंचाध्यायीके उत्तरार्धमें नं० ४७७ (४८०) से ७२० (७२४) और ७४३ (७४७) से८२१ (८२५) तक प्रायः ज्योंके त्यों पाये जाते हैं:—

येनांशेन ज्ञानं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥ २६८ ॥
येनांशेन चरित्रं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तुरागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥ २६९ ॥

ये दोनों पद्य 'पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय' ग्रन्थके पद्य हैं और 'येनांशे सुदृष्टि:' नामके उस पद्यके बाद 'उक्तं च' रूपमें उद्धृत किये गये हैं

साथ पंचाध्यायीके कितनेही पद्योंका संशोधन भी हो जाता है, जिनकी अशुद्धियोंको तीन प्रतियों परसे सुधारनेका यत्न करनेपर भी पं० मक्खनलालजी सुधार नहीं सके और इसलिये उन्हें गलतरूपमेंही उनकी टीका प्रस्तुत करनी पड़ी। इन पद्योंमेंसे कुछ पद्य नमूनेके तौरपर लाटीसंहितामें दिये हुए पाठभेदको कोष्टकमें दिखलाते हुए नीचे दिये जाते हैं—

द्रव्यतः क्षेत्रतश्चापि कालादपि च भावतः।
नात्राणमंशतोऽप्यत्र कुतस्तद्धि (द्वीमं) ह्यात्मनः॥ ५३५॥
मार्गो (र्गं) मोक्षस्य चारित्रं तत्सद्भक्ति (सदृग्ज्ञप्ति) पुरःसरम्।
साधयत्यात्मसिद्ध्यर्थं साधुरन्वर्थसंज्ञकः॥ ६६७॥
मद्यमांसमधुत्यागी त्यक्तोदुम्बरपंचकः।
नामतः श्रावकः क्षान्तो (ख्यातो) नान्यथापि तथा गृही॥ ७२६॥
देवेभ्यः क्षुत्पिपासादि पीडितेभ्योऽशुभोदयात्।
दीनेभ्यो दया (ऽभय) दानादि दातव्यं करुणार्णवैः॥ ७३१॥
नित्ये नैमित्तिके चैवं (व) जिनबिम्बमहोत्सवे।
शैथिल्यं नैव कर्तव्यं तत्त्वज्ञैस्तद्विशेषतः॥ ७३६॥
अथाबद्धर्मणः पक्षे (अर्थात्साधर्मिणः पक्षो) नावद्यस्य मनागपि।
धर्मपक्षक्षतिर्यस्मादधर्मोत्कर्ष पोष (रोप) णात्॥ ८१४॥

इन पद्यों परसे विज्ञ पाठक सहज ही में पंचाध्यायीके प्रचलित अथवा मुद्रित पाठकी अशुद्धियोंका कुछ अनुभव कर सकते हैं और साथ ही टीकाको देखकर यह भी मालूम कर सकते हैं कि इन अशुद्ध पाठोंकी वजहसे उसमें क्या कुछ गड़बड़ी हुई है।

किसी किसी पद्यका पाठभेद स्वयं ग्रन्थकर्ताका किया हुआभी जान पड़ता है, जिसका एक नमूना इस प्रकार है:—

उक्तं दिग्मात्रमत्रापि प्रसंगाद् गुरु लक्षणम्।
शेषं विशेषतो वक्ष्ये (ज्ञेयं) तत्स्वरूपं जिनागमात्॥ ७१४॥

यहां 'वक्ष्ये' की जगह 'ज्ञेयं' पदका प्रयोग लाटीसंहिताके अनुकूल जान पड़ता है, क्योंकि लाटीसंहितामें इसके बाद गुरुका को

विशेष स्वरूप नहीं बतलाया गया जिनके कथनकी 'वक्ष्ये' पदके द्वारा पंचाध्यायीमें प्रतिज्ञा की गई है, और न इस पद्यमें किसी इदयस्य या करस्थ दूसरे ग्रन्थका नाम ही लिया है जिसके साथ उस स्वरूप कथनकी प्रतिज्ञा-शृंखलाको जोड़ा जा सकता। ऐसी हालतमें यहाँ प्रत्येक ग्रन्थका अपना पाठ उसके अनुकूल है और उसे ग्रन्थकर्ताकी ही कृति समझना चाहिये।

यहां नमूनेके तौर पर लाटीसंहिताके कुछ ऐसे पद्य भी उचित जानकर उद्धृत किए जाते हैं जो पंचाध्यायीमें नहीं हैं—

> ननु या प्रतिमा प्रोक्ता दर्शनाख्या तदादिमा ।
> जैनानां सास्ति सर्वेषामर्थादव्रतिनामपि ॥ १४४ ॥
> नैवं सति तथा तुर्यगुणस्थानस्य शून्यता ।
> नूनं दृक्प्रतिमा यस्माद् गुणे पञ्चमके मता ॥ १४५ ॥
>
> तृतीयसर्गः ।
>
> ननु व्रतप्रतिमायामेतत्सामायिकं व्रतं ।
> तदेवात्र तृतीयायां प्रतिमायां तु किं पुनः ॥ ४ ॥
> सत्यं किंतु विशेषोऽस्ति प्रसिद्धः परमागमे ।
> सातिचारं तु तत्र स्यादत्रातीचारवर्जितं ॥ ५ ॥
> किं च तत्र त्रिकालस्य नियमो नास्ति देहिनां ।
> अत्र त्रिकालनियमो मुनेर्मूलगुणादिवत् ॥ ६ ॥
> तत्र हेतुवशात्क्वापि कुर्यात्कुर्यान्न वा क्वचित् ।
> सातिचारव्रतत्वाद्वा तथापि न व्रतक्षतिः ॥ ७ ॥
> अत्रावश्यं त्रिकालेऽपि कार्यं सामायिकं च यत् ।
> अन्यथा व्रतहानिः स्यादतीचारस्य का कथा ॥ ८ ॥
> अप्यत्रार्थविमित्यादि यावदेकादश स्थितिः ।
> व्रतान्येव विशिष्यन्ते नाधिक्यमपरं क्वचित् ॥ ९ ॥

शोभतेऽतीव संस्कारात्साक्षादाकरजो मणिः ।
संस्कृतानि व्रतान्येव निर्जराहेतवस्तथा ॥ १० ॥

सप्तमसर्ग ।

सारी लाटीसंहिता इसी प्रकारके ऊहापोहात्मक पद्योंसे भरी हुई है। यहाँ विस्तारभयसे सिर्फ थोड़े ही पद्य उद्धृत किए गये हैं; इन पद्योंपरसे विज्ञ पाठक लाटी संहिताकी कथनशैली और उसके साहित्य आदिका अच्छा अनुभव प्राप्त करनेके लिये बहुत कुछ समर्थ हो सकते हैं, और पञ्चाध्यायीके साथ तुलना करनेपर उन्हें यह मालूम हो सकता है कि दोनों ग्रन्थ एक ही लेखनीसे निकले हुए हैं और उनका टाइप भी एक है।

पञ्चाध्यायीके शुरूमें मंगलाचरण और ग्रन्थ करनेकी प्रतिज्ञारूपसे जो चार पद्य दिये हैं वे इस प्रकार हैं:—

पंचाध्यायावयवं मम कर्तुर्ग्रन्थराजमात्मवशात् ।
अर्थालोकनिदानं यस्य वचस्तं स्तुवे महावीरम् ॥ १ ॥
शेषानपि तीर्थकराननन्तसिद्धानहं नमामि समम् ।
धर्माचार्याध्यापकसाधुविशिष्टान्मुनीश्वरान्वन्दे ॥ २ ॥
जीयाज्जैनं शासनमनादिनिधनं सुवन्द्यमनवद्यम् ।
यदपि च कुमताराती नदयं धूमध्वजोपमं दहति ॥ ३ ॥
इति वन्दितपञ्चगुरुः कृतमङ्गलसत्क्रियः स एष पुनः ।
नाम्ना पञ्चाध्यायीं प्रतिजानीते चिकीर्षितं शास्त्रम् ॥४॥

इन पद्योंमें क्रमशः महावीर तीर्थंकर, शेष तीर्थंकर, अनन्तसिद्ध और आचार्य, उपाध्याय तथा साधुपदसे विशिष्ट मुनीश्वरोंकी वन्दना करके जैन शासनका जयघोष किया गया है। और फिर अपनी इस वन्दना क्रियाको 'मङ्गलसत्क्रिया' बतलाते हुए ग्रन्थका नामोल्लेख पूर्वक उसके रचनेकी प्रतिज्ञा की गई है। ये ही सब बातें इसी क्रम तथा आशय-को लिए हुए, शब्दों अथवा विशेषणादि पदोंके कुछ हेर फेर या कमी बेशीके साथ लाटीसंहिताके शुरूमें भी पाई जाती हैं। यथा—

विशेष स्वरूप नहीं बतलाया गया जिसके कथनकी 'पाले' पाठके इस पंचाध्यायीमें प्रतिज्ञा की गई है, और न इस ग्रंथमें किसी दूसरे ही कारणसे दूसरे ग्रंथका नाम ही दिया है जिसके साथ इस ग्रंथकी प्रतिज्ञा-शृंखलाको जोड़ा जा सकता। ऐसी हालतमें यही कहना पड़ता है कि अपना पाठ उसके अनुकूल है और उसे ग्रंथकर्ताकी ही कृति समझना चाहिये।

यहाँ नमूनेके तौर पर लाटीसंहिताके कुछ ऐसे पद्य भी उचित जानकर उद्धृत किए जाते हैं जो पंचाध्यायीमें नहीं हैं:—

ननु या प्रतिमा प्रोक्ता दर्शनाख्या तदादिमा ।
जैनानां साऽस्ति सर्वेषामर्थादव्रतिनामपि ॥ १४४ ॥
मैवं सति तथा तुर्यगुणस्थानस्य शून्यता ।
नूनं दृक्प्रतिमा यस्माद् गुणे पंचमके मता ॥ १४५ ॥

तृतीयसर्गः ।

ननु व्रतप्रतिमायामेतत्सामायिकं व्रतं ।
तदेवात्र तृतीयायां प्रतिमायां तु किं पुनः ॥ ४ ॥
सत्यं किंतु विशेषोऽस्ति प्रसिद्धः परमागमे ।
सातिचारं तु तत्रस्यादत्रातीचारवर्जितं ॥ ५ ॥
किं च तत्र त्रिकालस्य नियमो नास्ति देहिनां ।
अत्र त्रिकालनियमो मुनेर्मूलगुणादिवत् ॥ ६ ॥
तत्र हेतुवशात्क्वापि कुर्यात्कुर्याच्च वा क्वचित् ।
सातिचारव्रतत्वाद्वा तथापि न व्रतक्षतिः ॥ ७ ॥
अत्रावश्यं त्रिकालेऽपि कार्यं सामायिकं च यत् ।
अन्यथा व्रतहानिः स्यादतीचारस्य का कथा ॥ ८ ॥
अन्यत्राप्येवमित्यादि यावदेकादश स्थितिः ।
व्रतान्येव विशिष्यन्ते नार्थादर्थांतरं क्वचित् ॥ ९ ॥

शोभतेऽतीव संस्कारात्साक्षादाकरजो मणिः ।
संस्कृतानि व्रतान्येव निर्जराहेतवस्तथा ॥ १० ॥

षष्ठसर्ग ।

सारी लाटीसंहिता इसी प्रकारके ऊहापोहात्मक पद्योंसे भरी हुई है। यहाँ विस्तारभयसे सिर्फ थोड़े ही पद्य उद्धृत किए गये हैं; इन पद्योंपरसे विज्ञ पाठक लाटीसंहिताकी कथनशैली और उसके साहित्य आदिका अच्छा अनुभव प्राप्त करनेके लिये बहुत कुछ समर्थ हो सकते हैं; और पञ्चाध्यायीके साथ तुलना करनेपर उन्हें यह मालूम हो सकता है कि दोनों ग्रन्थ एक ही लेखनीसे निकले हुए हैं और उनका टाइप भी एक है।

पञ्चाध्यायीके शुरूमें मंगलाचरण और ग्रन्थ करनेकी प्रतिज्ञारूपसे जो चार पद्य दिये हैं वे इस प्रकार हैं:—

पंचाध्यायावयवं मम कर्तुर्ग्रन्थराजमात्मवशात् ।
अर्थालोकनिदानं यस्य वचस्तं स्तुवे महावीरम् ॥ १ ॥
शेषानपि तीर्थकराननन्तसिद्धानहं नमामि समम् ।
धर्माचार्याध्यापकसाधुविशिष्टान्मुनीश्वरान्वन्दे ॥ २ ॥
जीयाज्जैनं शासनमनादिनिधनं सुवन्द्यमनवद्यम् ।
यदपि च कुमतारातीनदयं धूमध्वजोपमं दहति ॥ ३ ॥
इति वन्दितपञ्चगुरुः कृतमङ्गलसत्क्रियः स एष पुनः ।
नाम्ना पञ्चाध्यायीं प्रतिजानीते चिकीर्षितं शास्त्रम् ॥४॥

इन पद्योंमें क्रमशः महावीर तीर्थंकर, शेष तीर्थंकर, अनन्तसिद्ध और आचार्य, उपाध्याय तथा साधुपदसे विशिष्ट मुनिश्वरोंकी वन्दना करके जैन शासनका जयघोष किया गया है। और फिर अपनी इस वन्दना क्रियाको 'मङ्गलसत्क्रिया' बतलाते हुए ग्रन्थका नामोल्लेख पूर्वक उसके रचनेकी प्रतिज्ञा की गई है। ये ही सब बातें इसी क्रम तथा आशयको लिए हुए, शब्दों अथवा विशेषणादि पदोंके कुछ हेर फेर या कमी बेशीके साथ लाटीसंहिताके शुरूमें भी पाई जाती हैं। यथा—

अत्रान्तरंगहेतुर्यद्यपि भावः कवेर्विशुद्धतरः।
हेतोस्तथापि हेतुः साध्वी सर्वोपकारिणी बुद्धिः ॥ ५ ॥
सत्राधिजीवमाख्यानं विदधाति यथाधुना।
कविः पूर्वापरायत्त पर्यालोचविचक्षणः ॥ ४०, १६० ॥
एतो धर्मस्वरूपोपि प्रसङ्गात्संगतोंशतः।
कविर्लब्धावकाशस्तं विस्तराद्वा करिष्यति ॥ ७७५ ॥

लाटीसंहितामें भी ग्रन्थकार अपनेको 'कवि' नामसे नामाङ्कित करते और 'कवि' लिखते हैं। जैसा कि ऊपर उद्धृत किए हुए पद्य नं० ६ नं० ७७५ (यह पद्य लाटीसंहितामें चतुर्थ सर्गमें नं० २७० पर दर्ज है) और नीचे लिखे पद्योंपरसे प्रकट है.—

......,यथास्थितः किल करोति कविः कवित्वं।
तद्वक्तां मयि गुणं जिनशासनं च ॥ १-८६ ॥ पृ० ८७ ॥
मोक्षः सूत्रानुसारेण यथाणुव्रतपञ्चकं।
गुणव्रतत्रयं वक्तुमुत्सहेऽधुना कविः ॥ ६-११७ ॥पृ०१०९॥

इसी तरह और भी कितने ही स्थानोंपर आपका 'कवि' नामसे उल्लेख पाया जाता है, कहीं कहीं असली नामके साथ कवि-विशेषण जुड़ा हुआ भी मिलता है यथा, 'सानन्दमास्ते कविराजमल्लः' (५१)—और इन सब उल्लेखोंसे यह जाना जाता है कि लाटीसंहिताके कर्ताकी कवि रूपसे बहुत प्रसिद्धि थी, 'कवि' उनका उपनाम अथवा पदविशेष था और वे अकेले (एकमात्र) उसीके उल्लेख द्वारा भी अपना नामोल्लेख किया करते थे। इसीसे पञ्चाध्यायीमें जो अभी पूरी नहीं हो पाई थी, अकेले 'कवि' नामसे ही आपका नामोल्लेख मिलता है। नामकी इस समानतासे भी दोनों ग्रन्थ एक ही कविकी दो कृतियाँ मालूम होते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि कविराजमल्ल एक बड़े विद्वान् और सत्कवि गये हैं। कविके लिये जो यह कहा गया है कि 'वह नये नये संदर्भ,

कविर्नूतनसंदर्भः।

नई नई मौलिक रचनाएँ—तय्यार करनेमें समर्थ होना चाहिये' वह बात उनमें जरूर थी और ये दोनों ग्रन्थ उसके ज्वलंत उदाहरण जान पडते हैं। इन ग्रन्थोंकी लेखनप्रणाली और कथनशैली अपने ढंगकी एक ही है। लाटीसंहिताकी सन्धियोंमें राजमल्लको 'स्याद्वादानवद्य-पद्य-गद्य-विद्या-विशारद-विद्वन्मणि' लिखा है और ये दोनों कृतियाँ उनके इस विशेषणके बहुत कुछ अनुकूल जान पडती हैं। लाटीसंहिताको देखकर यह नहीं कहा जा सकता कि पंचाध्यायी उसके कर्तासे भिन्न किसी और ऊँचे दर्जेके विद्वानकी रचना है। अस्तु।

मैं समझता हूं, ऊपरके इन सब उल्लेखों प्रमाणों अथवा कथनसमुच्चय परसे इस विषयमें कोई सन्देह नहीं रहता कि पंचाध्यायी और लाटी-संहिता दोनों एकही विद्वानकी दो विशिष्ट रचनाएं है, जिनमेंसे एक पूरी और दूसरी अधूरी है। पूरी रचना लाटीसंहिता है और उसमें उसके कर्ताका नाम बहुत स्पष्टरूपसे 'कविराजमल्ल'[१] दिया है। इसलिये पंचाध्यायीको भी 'कविराजमल्ल' की कृति समझना चाहिये, और यह बात बिलकुल ही सुनिश्चित जान पडती है।

लाटीसंहिताको कविराजमल्लने वि० सं० १६४१ में आश्विन शुक्ल दशमी रविवारके दिन बनाकर समाप्त किया है। जैसा कि उसकी प्रशस्तिके निम्नपद्योंसे प्रकट है:—

श्रीनृपतिविक्रमादित्यराज्ये परिणते सति।
सहैकचत्वारिंशद्भिरब्दानां शतषोडश॥ २॥
तत्राप्यश्विनीमासे सितपक्षे शुभान्विते।
दशम्यां दाशरथेः (श्र) शोभने रविवासरे॥ ३॥

---

१ एक सन्धि नमूनेके तौर पर इस प्रकार है:—इति श्रीस्याद्वादानवद्यगद्य-विद्याविशारदविद्वन्मणिराजमल्लविरचितायां श्रावकाचारापरनाम लाटीसंहितायां साधुदूदात्मजफामनमनःसरोजारविंदविकाशनैकमार्तण्डमण्डलायमानायां कथामुख वर्णन नाम प्रथम: सर्ग:।

पंचाध्यायीभी इसी समयके करीबकी—विक्रमकी १७ वीं श
मध्यकालकी—लिखी हुई है । उसका प्रारंभ या तो लाटीसंहिता
पहले हो गया था और उसे बीचमें रोक लाटीसंहिता लिखी गई
या लाटीसंहिताको लिखनेके बाद ही, सत्सहायको पाकर, कविके
उसके रचनेका भाव उत्पन्न हुआ है—अर्थात् यह विचार पैदा हुआ
उसे अब इसी टाइप अथवा शैलीका एक ऐसा ग्रन्थराज भी लि
चाहिये जिसमें यथाशक्ति और यथावश्यकता जैनधर्मका प्रायः
सार खींचकर रख दिया जाय । उसीके परिणामस्वरूप पंचाध्यायी
प्रारम्भ हुआ जान पड़ता है और उसे 'ग्रन्थराज' यह उपनामभी ग्रन्थ
आदिमें मंगलाचरणमें ही दे दिया गया है । परन्तु पंचाध्यायीका प्रारम्भ
पहले माननेकी हालतमें यह मानना कुछ आपत्तिजनक जरूर मालूम
होता है कि, उसमें उन सभी पद्योंकी रचना भी पहलेहीसे हुई थी जो
लाटीसंहितामें भी समानरूपसे पाये जाते हैं और इसलिये उन्हें पंचाध्यायी
परसे उठाकर लाटीसंहितामें रक्खा गया है । क्योंकि इसके विरुद्ध पंचा-
ध्यायीमें एक पद्य निम्नप्रकारसे उपलब्ध होता है:—

ननु वद (गुरु) सम्यक्त्वलक्षणं स्यादशेषतः ।
किमथास्त्यपरं किंचिल्लक्षणं तद्वदाद्य नः ॥ ४७७ ॥

यह पद्य लाटीसंहितामें भी चतुर्थसर्गके शुरूमें थोड़ेसेपरिवर्तित पाठ
भेदके साथ पाया जाता है । इसमें 'तद्वदाद्य नः' इस वाक्यखण्डके द्वारा
यह पूछा गया है तो 'उसे आज हमें बतलाइये' । इस प्रश्नमें 'आज
हमें बतलाइये' (वद् अद्य नः) इन शब्दोंका पंचाध्यायीके साथ कोई
सम्बन्ध स्थिर नहीं होता—यही मालूम नहीं होता कि यहाँ 'नः' (हमें)
शब्दका वाच्य कौनसा व्यक्ति विशेष है, क्योंकि पंचाध्यायी किसी
व्यक्तिविशेषके प्रश्न अथवा प्रार्थना पर नहीं लिखी गई है । प्रत्युत
इसके, लाटीसंहितामें उक्त शब्दोंका सम्बन्ध स्पष्ट है । लाटीसंहिता
अग्रवालवंशावतंस मंगलगोत्री साहु दूदाके पुत्र संघाधिपति 'फामन'
नामके एक धनिक विद्वानके लिये, उसके प्रश्न तथा प्रार्थना पर लिखी

नई नई मौलिक रचनाएँ—तय्यार करनेमें समर्थ होना चाहिये' वह बात उनमें जरूर थी और ये दोनों ग्रन्थ उसके ज्वलंत उदाहरण जान पड़ते हैं। इन ग्रन्थोंकी लेखनप्रणाली और कथनशैली अपने ढंगकी एक ही है। लाटीसंहिताकी सन्धियोंमें[1] राजमल्लको 'स्याद्वादानवद्य-पद्य-गद्य-विद्या-विशारद-विद्वन्मणि' लिखा है और ये दोनों कृतियाँ उनके इस विशेषणके बहुत कुछ अनुकूल जान पड़ती हैं। लाटीसंहिताको देखकर यह नहीं कहा जा सकता कि पंचाध्यायी उसके कर्त्तासे भिन्न किसी और ऊँचे दर्जेके विद्वानकी रचना है। अस्तु।

मैं समझता हूं, ऊपरके इन सब उल्लेखों प्रमाणों अथवा कथनसमुच्चय परसे इस विषयमें कोई सन्देह नहीं रहता कि पंचाध्यायी और लाटी-संहिता दोनों एकही विद्वानकी दो विशिष्ट रचनाएँ हैं, जिनमेंसे एक पूरी और दूसरी अधूरी है। पूरी रचना लाटीसंहिता है और उसमें उसके कर्त्ताका नाम बहुत स्पष्टरूपसे 'कविराजमल्ल' दिया है। इसलिये पंचाध्यायीको भी 'कविराजमल्ल' की कृति समझना चाहिये, और यह बात बिलकुल ही सुनिश्चित जान पड़ती है।

लाटीसंहिताको कविराजमल्लने वि० सं० १६४१ में आश्विन शुक्ल दशमी रविवारके दिन बनाकर समाप्त किया है। जैसा कि उसकी प्रशस्तिके निम्नपद्योंसे प्रकट हैः—

श्रीनृपतिविक्रमादित्यराज्ये परिणते सति।
सहैकचत्वारिंशद्भिरब्दानां शतषोडश॥ २॥
तत्राप्यश्विनीमासे सितपक्षे शुभान्विते।
दशम्यां दाशरथेः (थ) शोभने रविवासरे॥ ३॥

---

[1] एक सन्धि नमूनेके तौर पर इस प्रकार हैः—इति श्रीस्याद्वादानवद्यगद्य-विद्याविशारदविद्वन्मणिराजमल्लविरचितायां श्रावकाचारापरनाम लाटीसंहितायां साधुदूदात्मजफामनमनःसरोजारविन्दविकाशनैकमार्तण्डमण्डलायमानायां कथामुख-वर्णनं नाम प्रथमः सर्गः।

पंचाध्यायीभी इसी समयके करीबकी-विक्रमकी १७ वीं शताब्दीके उत्तरार्धकी-लिखी हुई है। उसका प्रारम्भ या तो लाटीसंहितासे पहले हो गया था और उसे बीचमें रोक लाटीसंहिता लिखी गई है और या लाटीसंहिताको लिखनेके बाद ही, सत्सहायको पाकर, कविके हृदयमें उसके रचनेका भाव उत्पन्न हुआ है—अर्थात् यह विचार पैदा हुआ कि उसे अब इसी टाइप अथवा शैलीका एक ऐसा ग्रन्थराज भी लिखना चाहिये जिसमें यथाशक्ति और यथावश्यकता जैनधर्मका प्रायः सारा सार खींचकर रख दिया जाय। उसीके परिणामस्वरूप पंचाध्यायीका प्रारम्भ हुआ जान पड़ता है और उसे 'ग्रन्थराज' यह उपनामभी ग्रन्थके आदिमें मंगलाचरणमें ही दे दिया गया है। परन्तु पंचाध्यायीका प्रारम्भ पहले माननेकी हालतमें यह मानना कुछ आपत्तिजनक जरूर मालूम होता है कि, उसमें उन सभी पद्योंकी रचना भी पहलेहीसे चुकी थी जो लाटीसंहितामें भी समानरूपसे पाये जाते हैं और इसलिये उन्हें पंचाध्यायी परसे उठाकर लाटीसंहितामें रक्खा गया है। क्योंकि इसके विरुद्ध पंचाध्यायीमें एक पद्य निम्नप्रकारसे उपलब्ध होता है:—

ननु यद् (युद्) ज्ञानचैतन्यलक्षणं स्याद्देशतः ।
किमथास्त्यपरं किंचिल्लक्षणं तद्वदाद्य नः ॥ ४७७ ॥

यह पद्य लाटीसंहितामें भी चतुर्थसर्गके शुरूमें कोष्टकोल्लेखित पाठ भेदके साथ पाया जाता है। इसमें 'तद्वदाद्य नः' इस वाक्यखण्डके द्वारा यह पूछा गया है कि 'उसे आज हमें बतलाइये'। इस प्रश्नमें 'आज हमें बतलाइये' (वद अद्य नः) इन शब्दोंका पंचाध्यायीके साथ कोई सम्बन्ध ठीक नहीं होता—यही मालूम नहीं होता कि यहाँ 'नः' (हमें) शब्दका वाच्य कौनसा व्यक्ति विशेष है; क्योंकि पंचाध्यायी किसी व्यक्तिविशेषके प्रश्न अथवा प्रार्थना पर नहीं लिखी गई है। प्रत्युत इसके, लाटीसंहितामें उक्त शब्दोंका सम्बन्ध सुस्पष्ट है। लाटीसंहिता अग्रोतवंशावतंस मंगलगोत्री साहु दूदाके पुत्र संघाधिपति 'फामन' नामके एक धनिक विद्वान्के लिये, उसके प्रश्न तथा प्रार्थना पर लिखी

नई नई मौलिक रचनाएँ–तय्यार करनेमें समर्थ होना चाहिये' यह बात उनमें जरूर थी और ये दोनों ग्रन्थ उसके ज्वलंत उदाहरण जान पड़ते हैं। इन ग्रन्थोंकी लेखनप्रणाली और कथनशैली अपने ढंगकी एक ही है। लाटीसंहिताकी सन्धियोंमें राजमल्लको 'स्याद्वादानवद्य–गद्य–पद्य–विद्या–विशारद–विद्वन्मणि' लिखा है और ये दोनों कृतियाँ उनके इस विशेषणके बहुत कुछ अनुकूल जान पड़ती हैं। लाटीसंहिताको देखकर यह नहीं कहा जा सकता कि पंचाध्यायी उसके कर्तासे भिन्न किसी और ऊँचे दर्जेके विद्वानकी रचना है। अस्तु।

मैं समझता हूँ, उपर्युक्त इन सब उल्लेखों प्रमाणों अथवा कथनसमुच्चयपरसे इस विषयमें कोई सन्देह नहीं रहता कि पंचाध्यायी और लाटीसंहिता दोनों एक ही विद्वानकी दो विशिष्ट रचनाएँ हैं, जिनमेंसे एक पूरी और दूसरी अधूरी है। पूरी रचना लाटीसंहिता है और उसमें उसके कर्ताका नाम बहुत स्पष्टरूपसे 'कविराजमल्ल' दिया है। इसलिये पंचाध्यायीको भी 'कविराजमल्ल' की कृति समझना चाहिये, और यह बात बिलकुल ही सुनिश्चित जान पड़ती है।

लाटीसंहिताको कविराजमल्लने वि० सं० १६४१ में आश्विन शुक्ला दशमी रविवारके दिन बनाकर समाप्त किया है। जैसा कि उसके प्रशस्तिके निम्नपद्योंसे प्रकट है :-

> श्रीनृपतिविक्रमादित्यराज्ये परिणते सति।
> सहैकचत्वारिंशद्भिरब्दानां शतषोडश ॥ २ ॥
> तत्रापि चाश्विनीमासे सितपक्षे शुभान्विते।
> दशम्यां दाशरथे (थ) शोभने रविवासरे ॥ ३ ॥

[illegible]

पंचाध्यायीभी इसी समयके करीबकी—विक्रमकी १७ वीं शताब्दीके मध्यकालकी—लिखी हुई है। उसका प्रारम्भ या तो लाटीसंहितासे कुछ पहले हो गया था और उसे बीचमें रोक लाटीसंहिता लिखी गई है और या लाटीसंहिताको लिखनेके बाद ही, सन्तोषको पाकर, कविके हृदयमें उसके रचनेका भाव उत्पन्न हुआ है—अर्थात् यह विचार पैदा हुआ कि उसे अब इसी टाइप अथवा शैलीका एक ऐसा ग्रन्थराज भी लिखना चाहिये जिसमें यथाशक्ति और यथावश्यकता जैनधर्मका प्रायः सारा सार खींचकर रख दिया जाय। उसीके परिणामस्वरूप पंचाध्यायीका प्रारम्भ हुआ जान पड़ता है और उसे 'ग्रन्थराज' यह उपनामभी ग्रन्थके आदिमें मंगलाचरणमें ही दे दिया गया है। परन्तु पंचाध्यायीका प्रारम्भ पहले माननेकी हालतमें यह मानना कुछ आपत्तिजनक जरूर मालूम होता है कि, उसमें उन सभी पद्योंकी रचना भी पहलेहीसे चुकी थी जो लाटीसंहितामें भी समानरूपसे पाये जाते हैं और इसलिये उन्हें पंचाध्यायी परसे उठाकर लाटीसंहितामें रक्खा गया है। क्योंकि इसके विरुद्ध पंचाध्यायीमें एक पद्य निम्नप्रकारसे उपलब्ध होता है:—

ननु वद (गुरु) सम्यक्त्वलक्षणं स्याद्दोषतः।
किमथास्त्यपरं किंचिल्लक्षणं तद्वदाद्य नः॥ ४७७॥

यह पद्य लाटीसंहितामें भी चतुर्थसर्गके शुरूमें ब्रेकटोल्लेखित पाठभेदके साथ पाया जाता है। इसमें 'तद्वदाद्य नः' इस वाक्यखण्डके द्वारा यह पूछा गया है तो 'उसे आज हमें बतलाइये'। इस प्रश्नमें 'आज हमें बतलाइये' (वद अद्य नः) इन शब्दोंका पंचाध्यायीके साथ कोई सम्बन्ध ठीक नहीं होता—यही मालूम नहीं होता कि यहाँ 'नः' (हमें) शब्दका वाच्य कौनसा व्यक्ति विशेष है; क्योंकि पंचाध्यायी किसी व्यक्तिविशेषके प्रश्न अथवा प्रार्थना पर नहीं लिखी गई है। प्रत्युत इसके, लाटीसंहितामें उक्त शब्दोंका सम्बन्ध सुस्पष्ट है। लाटीसंहिता अग्रवालवंशावतंस मंगलगोत्री साहु दूदाके पुत्र संघाधिपति 'फामन' नामके एक धनिक विद्वानके लिये, उसके प्रश्न तथा प्रार्थना पर लिखी

नई नई मौलिक रचनाएँ—तय्यार करनेमें समर्थ होना चाहिये' यह बात उनमें जरूर थी और ये दोनों ग्रन्थ उसके ज्वलंत उदाहरण जान पड़ते हैं। इन ग्रन्थोंकी लेखनप्रणाली और कथनशैली अपने ढंगकी एक ही है। लाटीसंहिताकी सन्धियोंमें[१] राजमल्लको 'स्याद्वादानवद्य–पद्य–गद्य–विद्या–विशारद्–विद्वन्मणि' लिखा है और ये दोनों कृतियाँ उनके इस विशेषणके बहुत कुछ अनुकूल जान पड़ती हैं। लाटीसंहिताको देखकर यह नहीं कहा जा सकता कि पंचाध्यायी उसके कर्त्तासे भिन्न किसी और ऊँचे दर्जेके विद्वानकी रचना है। अस्तु।

मैं समझता हूं, ऊपरके इन सब उल्लेखों प्रमाणों अथवा कथनसमुच्चय परसे इस विषयमें कोई सन्देह नहीं रहता कि पंचाध्यायी और लाटीसंहिता दोनों एकही विद्वानकी दो विशिष्ट रचनाएँ हैं, जिनमेंसे एक पूरी और दूसरी अधूरी है। पूरी रचना लाटीसंहिता है और उसमें उसके कर्ताका नाम बहुत स्पष्टरूपसे 'कविराजमल्ल' दिया है। इसलिये पंचाध्यायीको भी 'कविराजमल्ल' की कृति समझना चाहिये, और यह बात बिलकुल ही सुनिश्चित जान पड़ती है।

लाटीसंहिताको कविराजमल्लने वि० सं० १६४१ में आश्विन शुक्ल दशमी रविवारके दिन बनाकर समाप्त किया है। जैसा कि उसकी प्रशस्तिके निम्नपद्यांसे प्रकट है:—

> श्रीनृपतिविक्रमादित्यराज्ये परिणते सति।
> सदेकचत्वारिंशद्भिरब्दानां शतषोडश॥ २॥
> तत्राप्यश्विनीमासे सितपक्षे शुभान्विते।
> दशम्यां दाशरथे. (थ) शोभने रविवासरे॥ ३॥

१ एक सन्धि समाप्तिके तौर पर इस प्रकार है:–इति श्रीस्याद्वादानवद्यगद्य विद्याविशारदविद्वन्मणिराजमल्लविरचितायां श्रावकाचारापरनाम लाटीसंहितायां साधुदूदात्मजफामनमनःसरोजारविन्दाविकाशनैकमार्तण्डमण्डलायमानायां कथामुख वर्णनं नाम प्रथमः सर्गः।

लाटीसंहिताके बाद प्रारंभ हुआ है । परन्तु पंचाध्यायीका प्रारंभ पहले हुआ हो या बादमें, इसमें संदेह नहीं कि वह लाटीसंहिताके बाद प्रकाशमें आई है और उस वक्त जनता के सामने रक्खी गई है जब कि कविमहोदयकी इहलोकयात्रा प्रायः समाप्त हो चुकी थी । यही वजह है कि उसमें किसी सन्धि, अध्याय, प्रकरणादिक या ग्रंथकर्ताके नामादिक की कोई योजना नहीं हो सकी और वह निर्माणाधीन स्थितिमें ही जनताको उपलब्ध हुई है । मालूम नहीं ग्रंथकर्ता महोदय इसमें और किन किन विषयोंका किस हद तक समावेश करना चाहते थे और उन्होंने अपने इस ग्रंथराजके पाँच महाविभागों-अध्यायों—के क्या नाम सोचे थे । निःसंदेह ऐसे ग्रंथरत्नका पूरा न हो सकना समाजका बड़ा ही दुर्भाग्य है ।

कवि राजमल्लने लाटीसंहिताकी रचना 'वैराट' नगरके जिनालयमें बैठकर की है । यह वैराट नगर वही जान पड़ता है जिसे 'बैराट' भी कहते हैं और जो जयपुरसे करीब ४० मीलके फासले पर है । किसी समय यह विराट अथवा मत्स्यदेशकी राजधानी थी और यहीं पर पांडवोंका गुप्त वेशमें रहना कहा जाता है । 'भीमकी डूँगरी' आदि कुछ स्थानोंका लोग अब भी उसी वक्त के बतलाते हैं[1] । लाटीसंहितामें कविने इस नगरकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा करते हुए, अपने समयका कितना ही वर्णन किया है और उससे मालूम होता है कि यह नगर उस समय बड़ा ही समृद्धशाली था । वहां कोई दरिद्री नजर नहीं आता था, प्रजामें परस्पर असूया अथवा ईर्षाद्वेषादिके वशवर्ती होकर छिद्रान्वेषणका भाव नहीं था, वह परचक्रके भयसे रहित थी, सबलोग खुशहाल तथा धर्मात्मा थे, चोरी वगैरहके अपराध नहीं होते थे और इससे नगरके लोग दंडका नाम भी नहीं जानते थे । अकबर बादशाहका उस समय राज्य

१ लाटीसंहितामें भी पांडवोंके इन वर्तमान चिन्होंके अस्तित्वको सूचित किया है । यथा—

...भीमादि भूपेंद्रच पांडवानामद्यापि चास्वर्यपरंपरेका. ।
या काश्चदुल्लंख्य बलात्कपिनादुर्ग विमुंचन्ति महाबला अपि ॥ ४४ ॥

गई है, जिसका स्पष्ट उल्लेख संहिताके 'कथामुखवर्णन' नामके प्रथम सर्गमें पाया जाता है। फामनको संहितामें जगह जगह आशीर्वाद भी दिया गया है। उक्त पद्यसे ठीक पहले भी, चतुर्थसर्गका प्रारम्भ करते हुए आशीर्वादका एक पद पाया जाता है और वह इस प्रकार है:—

इदमिदं तव भो वनिजांपते भवतु भावितभाव सुदर्शनं।
विदितफामननाममहामते रसिकधर्मकथासु यथार्थतः॥ १॥

इससे साफ जाना जाता है कि इस पद्यमें जिस व्यक्ति विशेषको सम्बोधन करके आशीर्वाद दिया गया है वही अगले पद्यका प्रश्नकर्ता और उसमें प्रयुक्त हुए 'नः' पदका वाच्य है। लाटी संहितामें प्रश्नकर्ता फामनके लिये 'नः' पदका प्रयोग किया गया है, यह बात नीचे लिखे पद्यसे और भी स्पष्ट हो जाती है:—

सामान्याद्वगम्य धर्मं फलितं ज्ञातुं विशेषादपि।
भक्त्या यस्तमपीपृछद् नृपरुचिर्नाम्नाधुना फामनः॥
धर्मत्वं किमथास्य हेतुरथ किं साक्षात्फलं तत्वतः।
स्वामिस्त्वं किमथेति सूरिरवदत्सर्वं प्रणम्रः कविः॥७७॥मु०७८॥

ऐसी हालतमें नहीं कहा जा सकता कि उक्त पद्य नं० ४७७ पंचाध्यायीसे उठाकर लाटीसंहितामें रक्खा गया है बल्कि लाटीसंहितासे उठाकर वह पचाध्यायीमें रक्खा हुआ जानपड़ता है। साथ ही, यह भी मालूम होता है कि उक्त पद्यके उस वाक्य-खण्डमें समुचित परिवर्तन-का होना या तो छूट गया और या ग्रंथके अभी निर्माणाधीन होनेके कारण उस वक्त उसकी जरूरत ही नहीं समझी गई और इसलिये पंचाध्यायी का प्रारंभ यदि पहले हुआ हो तो यह कहना चाहिये कि उसकी रचना प्रायः उसी हद तक हो पाई थी जहाँसे आगे लाटीसंहितामें पाये जाने वाले समान पद्योंका उसमें प्रारंभ होता है। अन्यथा, लाटीसंहिताके कथनसंबंधादिको देखते हुए, यह मानना ही ज्यादा अच्छा और अधिक संभावित जान पड़ता है कि पंचाध्यायीका लिखा जाना

लाटीसंहिताके बाद प्रारंभ हुआ है । परंतु पञ्चाध्यायीका प्रारंभ पहले हुआ हो या पीछे, इसमें संदेह नहीं कि वह लाटीसंहिताके बाद प्रकाशमें आई है और उस वक्त जनता के सामने रक्खी गई है जब कि कविमहोदयकी इहलोकयात्रा प्रायः समाप्त हो चुकी थी । यही वजह है कि उसमें किसी सन्धि, अध्याय, प्रकरणादिक या ग्रंथकर्ताके नामादिक की कोई योजना नहीं होसकी और वह निर्माणाधीन स्थितिमें ही जनताको उपलब्ध हुई है । मालूम नहीं ग्रंथकर्ता महोदय इसमें और किन किन विषयोंका किस हद तक समावेश करना चाहते थे और उन्होंने अपने इस ग्रंथराजके पाँच महाविभागों-अध्यायों—के क्या नाम सोचे थे । निःसंदेह ऐसे ग्रंथरत्नका पूरा न हो सकना समाजका बड़ा ही दुर्भाग्य है ।

कवि राजमल्लने लाटीसंहिताकी रचना 'वैराट' नगरके जिनालयमें बैठकर की है । यह वैराट नगर वही जान पड़ता है जिसे 'वैराट' भी कहते हैं और जो जयपुरसे करीब ४० मीलके फासले पर है, किसी समय यह विराट अथवा मत्स्यदेशकी राजधानी थी और यहीं पर पांडवोंका गुप्त वेशमें रहना कहा जाता है । 'भीमकी डूंगरी' आदि कुछ स्थानोंको लोग अब भी उसी वक्त के बतलाते हैं[1] । लाटीसंहितामें कविने इस नगरकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा करते हुए, अपने समयका कितना ही वर्णन दिया है और उससे मालूम होता है कि यह नगर उस समय बड़ा ही समृद्धशाली था। यहां कोई दरिद्री नजर नहीं आता था, प्रजामें परस्पर असूया अथवा ईर्षाद्वेषादिके वशवर्ती होकर छिद्रान्वेषणका भाव नहीं था, वह परचक्रके भयसे रहित थी, सबलोग खुशहाल तथा धर्मात्मा थे, चोरी वगैरहके अपराध नहीं होते थे और इससे नगरके लोग दंडका नाम भी नहीं जानते थे । अकबर बादशाहका उस समय राज्य

---

1 लाटीसंहितामें भी पांडवोंके इन पराक्रमन चिन्होंके अस्तित्वको सूचित किया है । यथा—

...श्रीशादि शृंगेषु च पांडवानामद्यापि चाश्चर्यपरम्परा. ।

या कान्दिशीकोऽप्य बलावलिमादर्श विमुंचन्ति महाबला अपि ॥ ४४ ॥

था और यही [redacted] नगरका स्वामी तथा भोक्ता था। नगर कोटखाईसे युक्त और उसकी पर्वतमालामें कितनी ही ताँबे की खानें थीं जिनसे उस वक्त ताँबा निकाला जाता था और उसे गलामलकर निकालनेका एक बडा भारी कारखाना भी कोटके बाहर, पासमें ही, दक्षिण दिशाकी ओर स्थित था। नगरमें ऊँचे स्थान पर एक सुंदर प्रोत्तुंग जिनालय–दिगंबर जैन मंदिर–था, जिसमें यशस्थंभ और समृद्ध कोणों (कोठों) को लिये [redacted] चार शालाएँ थीं, उनके मध्यमें वेदी और वेदीके ऊपर उत्तम शिखर था। कविने इस जिनालयको वैराट नगरके सिरका मुकुट बतलाया है। साथही, यह सूचित किया है कि वह नाना प्रकारकी रंगबिरंगी चित्रावलीसे सुशोभित था और उसमें निर्ग्रन्थ जैन साधुभी रहते थे। इसी मंदिरमें बैठकर कविने लाटीसंहिताकी रचनाकी है। संभव है कि पंचाध्यायी भी यहीं लिखी गई हो। यह मंदिर साधु दूदाके ज्येष्ठपुत्र और फामनके बडे भाई 'न्योता'[१]ने निर्माण कराया था; जैसा कि संहिताके निम्न पद्यसे प्रगट है:–

> तत्राद्यस्य वरो सुतो वरगुणो न्योताह्वसंघाधिपो ।
> येनैवज्जिनमंदिरं स्फुटमिह प्रोत्तुंगमत्यद्भुतं ।
> वैराटे नगरे निधाय विधिवत्पूजाश्च बह्वयः कृताः ।
> अत्रामुत्र सुखप्रदः स्वयशसः स्तंभः समारोपितः ॥ ७२ ॥

आजकाल वैराट ग्राममें पुरातन वस्तुखोधकोंके देखने योग्य जो तीन चीजें पाई जाती हैं उनमें पार्श्वनाथका मन्दिरभी एक खास चीज है और वह संभवतः यही मन्दिर मालूम होता है जिसका कविने लाटीसंहितामें

१ अकबरके पिता हुमायूँ और पितामह 'बाबर' का भी कविने उल्लेख किया है और इन सब को 'चत्ता' जातिके बतलाया है।

२ वैराटग्राम और उसके आसपासका प्रदेश आज भी धातुके मैलसे आच्छादित है, ऐसा डा० भांडारकरने अपनी एक रिपोर्टमें प्रकट किया है, जिसका नाम आगे एक नोटमें दिया गया है।

प्रतिष्ठित हुए थे । क्षेमकीर्ति भट्टारक उस समय मौजूद भी थे और उनके उपदेश तथा आदेशसे उक्त जिनालयमें कितनेही चित्रोंकी रचना हुई थी । वैराटनगरमें उस समय भट्टारक हेमचन्द्रकी प्रसिद्ध आम्नायको पालनेवाले 'ताल्हू' नामके एक विद्वान्‌भी थे, जिनके अनुग्रहसे फामनको धर्मका स्वरूप जानने आदिमें कितनीही सहायता मिली थी । परन्तु उसका वह सब जानना उस वक्त तक प्रायः सामान्य ही था जब तक कि कविराजमल्ल वहां पहुंचे और उनसे धर्मका विशेष स्वरूपादि पूछा जाकर लाटीसंहिताकी रचना कराई गई ।

इस तरह पर कविराजमल्लने वैराट नगर, अकबर बादशाह, काष्ठासंघी भट्टारक वंश, फामन कुटुम्ब, स्वयं फामन और वैराट जिनालयका कितनाही गुणगान तथा बखान करते हुए लाटीसंहिताके रचना सम्बन्धको व्यक्त किया है । परन्तु खेद है कि इतना लम्बा लिखने परभी आपने अपने विषयका कोई खास परिचय नहीं दिया—यह नहीं बतलाया कि आप कहाँके रहनेवाले थे, किस हेतुसे वैराट नगर गये थे, कौनसे वंश, जाति, गोत्र अथवा कुलमें उत्पन्न हुए थे, आपके माता पिता तथा गुरुका क्या नाम था और आप उस समय किस पदमें स्थित थे । लाटीसंहितासे—अध्यात्मकमलमार्तण्डसेभी—इन सब बातोंका कोई पता नहीं चलता । हाँ, लाटीसंहिताकी प्रशस्तिमें एक पद्य निम्न प्रकारसे जरूर पाया जाता है:—

एतेषामस्ति मध्ये गृहवृषरुचिमान् फामनः संघनाथ-
स्तेनोच्चैः[१] कारितेयं सदनसमुचिता संहिता नामलाटी ॥

---

१ कवि राजमल्ल वैराट नगरके निवासी नहीं थे बल्कि स्वयंही किसी अज्ञात कारण वश वहां पहुंच गये थे, यह बात नीचे लिखे पद्यसे प्रकट है, जो संहितामें फामनका वर्णन करते हुए दिया गया है—

येनानल्पमितानयानविधिना सद्धर्मनाथेन यद्-
धर्मारामप्रशोभयं निजवपुः कर्तुं चिराद्दीप्सितम् ॥
तत्रस्थे फामनस्य सूनुरिदं तद्वाचना सत्कविम् ।
वैराटे स्वयमागते शुभवशाद्दृष्टे महाह्लय ॥ ७५ ॥

१६६७ में 'भक्तामर' स्तोत्रकी संस्कृत टीका लिखी है, और दूसरे पाण्डे रायमल्ल, जिन्होंने समयसारकी वह बालबोध भाषा टीका लिखी है जिसका कविवर बनारसीदासजीने अपने समयसार नाटकमें उल्लेख किया है। ये लोग लाटीसंहिताके कर्ता कविराजमल्लसे भिन्न थे। अतः कविराजमल्लके ग्रन्थोंकी खोज करनेवाले विद्वानोंको इस विषयका ध्यान रखना चाहिये।"





श्रीवीतरागाय नमः।

श्रीस्याद्वादानवद्यपद्यगद्यविद्याविश...

राजमल्लविरचिता

लाटीसंहिता।

प्रथमः सर्गः।



ज्ञानानन्दात्मानं नमामि तीर्थंकरं महावीरम्।
यत्तीर्थे विश्वमशेषं व्यदीपि नक्षत्रमेकमिव नभसि ॥ १ ॥

नमामि शेषानपि तीर्थनायका-
ननन्तबोधादिचतुष्टयात्मनः।
स्मृतं यदीयं किल नाम भेषजं
भवेद्धि विघ्नौघगदोपशान्तये ॥ २ ॥

प्रदुष्टकर्माष्टकविप्रमुक्तका-
स्तदत्यये चाष्टगुणान्वितानिह।
समाश्रये सिद्धगणानपि स्फुटं
सिद्धेः पथस्तत्पदमिच्छतां नृणाम् ॥ ३ ॥

---

१ यस्य महावीरस्य। २ ज्ञाने। ३ नाशे।

१६६७ में 'भक्तामर' स्तोत्रकी संस्कृत टीका लिखी है, और दूसरे पाण्डे रायमल्ल, जिन्होंने समयसारकी वह बालबोध भाषा टीका लिखी है जिसका कविवर बनारसीदासजीने अपने समयसार नाटकमें उल्लेख किया है। ये लोग लाटीसंहिताके कर्ता कविराजमल्लसे भिन्न थे। अतः कविराजमल्लके ग्रन्थोंकी खोज करनेवाले विद्वानोंको इस विषयका ध्यान रखना चाहिये।"





श्रीवीतरागाय नमः ।

श्रीस्याद्वादानवद्यपद्यगद्यविद्याविशारद ... ...

राजमल्लविरचिता

लाटीसंहिता ।



प्रथमः सर्गः ।

ज्ञानानन्दात्मानं नमामि तीर्थंकरं महावीरम् ।
यच्चिति विश्वमशेषं व्यदीपि नक्षत्रमेकमिव नभसि ॥ १ ॥

नमामि शेषानपि तीर्थनायका-
नन्तबोधादिचतुष्टयात्मनः ।
स्मृतं यदीयं किल नाम भेषजं
भवेद्धि विघ्नौघगदोपशान्तये ॥ २ ॥

प्रदुष्टकर्माष्टकविप्रमुक्तका-
नतद्व्यये चाष्टगुणान्वितानिह ।
समाश्रये सिद्धगणानपि स्फुटं
सिद्धेः पथस्तत्पदमिच्छतां नृणाम् ॥ ३ ॥

---

१ यस्य महावीरस्य । २ ज्ञाने । ३ नाशे ।

दृष्ट्वात्मनः प्रतिनिधि किल शङ्कितासी
रक्तेक्षणा क्षणममर्षधिया सपत्न्याः ॥ २९ ॥
वभुः सरांसीव भुवो यदन्तरे
गृहाङ्गभागेषु मणित्विषां चयाः ।
वराङ्गनाः संवरिताम्बराः क्षणं
ययुस्त्रपान्तास्तरणातुराः पुनः ॥ ३० ॥
यत्रात्र कान्ता रतवेश्मनीह
निवेशितादर्शशताश्मभित्तौ ।
बाला प्रतिच्छायमवेक्ष्य रूपं
वृथाऽकरोन्मानमनल्पसंभ्रमात् ॥ ३१ ॥
विचित्रचित्राणि यदीयसद्मसु
व्यलीलिखत्कर्मसु सूत्रधारः ।
नूनं विलोक्यैतदकारि मद्विधिः
जगत्परं चात्मकृतार्थतां गतः ॥ ३२ ॥
यदङ्गनामङ्गलगानकोटिभिः
स्तुते सुरालोकरवैर्विहायसि ।
विधूपितागुरुसुधूपधूम्रके
दिवानिशं रौति शिखी स्म वेश्मसु ॥ ३३ ॥
विभान्ते नगराण्यनल्पगणितान्यासागरांसि वै
तत्रापि प्रतिपत्तनं युवसयस्तारुण्यतोयोर्मयः ।
किन्त्वत्रत्यवराङ्गनापरिलसद्दृक्कोणलीलावली
वाणाग्रैर्मनुतेस्म दुर्गमतुलं वैराटकं मन्मथः ॥ ३४ ॥
आसीदयत्नादपि जागरूको
जगज्जिगीषुः कुसुमायुधश्च ।
लीलारणन्नूपुरसिञ्चनादै
निशाह्नि वैराटपुराङ्गनानाम् ॥ ३५ ॥

१ प्रतिबिम्बम् । २ वादित्रशब्दैः । ३ आकाशे ।

यदीयहर्म्याग्रनिषद्दपद्दवी
दुकूलरत्नाभरणाद्यलंकृताः ।
वधूरुपैत्यैन्द्रधनुःशताकृति-
मगादकालेऽपि विराटपत्तनम् ॥ ३६ ॥

विराटवीथीषु नवोढयोषितां
गमागमाभ्यासवशानुसारिभिः ।
तदाननामोदमदालिनिःस्वनै
रयं मधु कोऽप्यपर. सदावनः ॥ ३७ ॥

घनाघनाभेपजगल्लोघे-
र्वैराटहट्टाध्वसु पर्यटद्भिः ।
गते प्रचारोऽपि च दुर्गमोऽभू-
द्वारांनिधे पार इवोर्मिजालैः ॥ ३८ ॥

अनेकदेशीयजनैरनेकै
श्रितः सरिद्भिः सरितांपतिर्यथा ।
तदागमिष्यन्निखिलोपमेयतां
यदा स सिन्धुर्मपुरोऽभविष्यत् ॥ ३९ ॥

वेदाः प्रमाणं हि पठद्भिरुच्चै
र्विप्रैरनूनैरिह सम्भृतोऽसौ ।
हृष्टाम्बराणश्च चतुर्भिरास्यै
र्वैराटनाम्नावततार धाता ॥ ४० ॥

उर्वी यदन्ते विपुला स्वसीम्नः
सस्यारुहा सप्रसवेव योषित् ।
धान्यानि सूते विविधान्यजस्र
रत्नानि यद्वा सुसुतोपमानि ॥ ४१ ॥

सार्द्राणि यत्रोपवनानि नित्यं
नम्राणि भूयो महवैरिवानि ।

१ शब्दैः । २ मार्गेषु । ३ उर्वी इति पृथ्व्याः । यथा योषित् सप्रसवा तथैव उर्वी सस्यप्रसवा ।

वाचालितानीव पिकस्वनाद्यैः
समस्त्रयाणीव हि पार्षदानि ॥ ४२ ॥
यस्यान्तिके कूपतडागवाप्यः
सुधावलिप्तोज्ज्वलकण्ठदेशाः ।
परीत्य पूर्णं प्रतिबिम्बमिन्दोः
स्थिताःचिरंजुर्नभसीव ताराः ॥ ४३ ॥
सरस्सु वापीषु कुशेशयानां
कचित्सहस्राणि शतानि यत्र ।
वैराटसाम्राज्यमुखेन्दुशोभां
द्रष्टुं धरित्र्याः धृतलोचनानि ॥ ४४ ॥
लोलोर्म्मयो यत्र जलाशयेषु
क्षणं पतित्वाथ समुत्पतन्ति ।
मन्ये मुखं वीक्ष्य विराटराज्ञः
स्खलन्त्यनह्लादवलाः पदे पदे ॥ ४५
वापीकूपतडागचत्वरमठक्रीडाद्रिवाट्यादिषु
भामिन्यो रमणैः सहोत्सुकतयोद्रेकाद्रमन्ते म्हः
तन्मन्येऽमरदम्पतीशतमिदं स्वर्गात्समुत्तीर्य यत्
दृष्ट्वाश्चर्यपरंपरां मुदमगाद्वैराटपार्श्वे स्थितम् ॥ ४६
गमागमाभ्यामहतां जनानां
श्रेणी चतुर्दिक्षु चतुर्मुखेभ्यः ।
[3]अत्राकरिष्यद्दलमेव सुरापगायाः
पूरेण सा चेद्भविष्यदेका ॥ ४७ ॥
यतो बहिर्मार्गधरासु संस्थिताः
कृषीवलाः मार्भकबन्धुयोषितः ।

---

१ पर्षदि सभायां योग्यानि पार्षदानि समीपवर्तीनि सेवक
३ पमन्तनिल्कायाद्दोऽयमुपजातिनामायं आपानेथ । ४ वैराटनगर

मनाग्मनागन्तरमाश्रितोऽश्रमाः
　दधुर्दिवाग्रामशतोपमेयताम् ॥ ४८ ॥
श्रीहाद्रिशृङ्गेषु च पाण्डवाना
　मद्यापि चाश्चर्यपरंपरांह्रः ।
यान् काश्चिदालोक्य बलावलिप्ता
　दर्पं विमुञ्चन्ति महाबला अपि ॥ ४९ ॥
जले जने नक्रमहानियोजनं
　धनुर्भृता ज्या निहतिर्न सम्पदाम् ।
रणे यतौ चापगुणे न संग्रहो
　विशालता यत्र न सा विशालता ॥ ५० ॥
दण्डोऽस्ति छत्रे न किल प्रजायां
　बन्धोऽस्ति हारे न जने कचिद्धि ।
गन्धापहो गन्धवहोऽस्ति तस्करो
　न तस्करः कोऽपि परार्थसद्महे ॥ ५१ ॥
नवोढवध्वा नवसङ्गमे भयं
　न जातु भीतिः परचक्रिणो रणे ।
वस्त्रापहारो रतकर्मणि ध्रुवं
　यत्रापहारोऽस्त्यपरो न कश्चिन् ॥ ५२ ॥
छिद्रग्रहो मौक्तिकदामगुम्फे
　न भूपयान्योन्यजनेषु कश्चिन् ।
द्यूते ध्वनिर्मारय मारयेति
　न बालगोपालमुखेषु यत्र ॥ ५३ ॥
ताम्बूलमुक्ताविनिखण्डनं वा
　भोगोपभोगे न च तत्कदाचिन् ।

---

१ 'क' पुस्तके " माधिनाः श्रमा " इति पाठः । २ 'ख' पुस्तके "न्ता" इति पाठः ।

क्षतं नखाङ्कैर्वरयोषिदङ्गे
  सौध्यावलीसंहनने न यत्र ॥ ५४ ॥
रागोऽधरे यत्र नितम्बिनीनां
  नान्यस्वदाराधनवञ्चनेषु ।
नेत्रद्वयो रञ्जनमङ्गनानां
  पापाञ्जनं नैव जनेषु किञ्चित् ॥ ५५ ॥
पयोजनाले परमस्ति कण्टको
  न कण्टकः कोऽपि मिथः प्रजायाम् ।
नूनं सरोगो न जनोऽत्र कश्चित्
  परं सरोगो यदि राजहंसः ॥ ५६ ॥
दरिद्रता दातृजने न यत्र
  परं प्रतिग्राहिणि सास्ति पात्रे ।
नान्तस्तदाश्चर्यपरंपराणां
  मापूर्यतां चेत्कविधर्मशक्तिः ॥ ५७ ॥
इत्याद्यनेकैर्महिमोपमानै
  वैराटनाम्ना नगरं विलोक्य ।
स्तोतुं मनागात्मतया प्रवृत्तः
  सानंदमास्ते कविराजमल्लः ॥ ५८ ॥
आसीदुग्रसमग्रवंशविदिता या स्वर्धुनीवामला
नानाभूपतिरत्नभूरिव परा जातिश्च गत्ताभिधा ।
तस्यां बाबरपातिसाहिरभवन्निर्जित्यशत्रून् बला–
द्दिल्लीमण्डलमण्डितात्मयशसा पूर्णप्रतापानलः ॥ ५९ ॥
तत्पुत्रः समजीजनन्निजकुले व्योम्नीव चण्डांशुमान्
दोर्दण्डैरिव खंडनोद्भटमना नाम्ना हुमाहुं नृपः ।
दुर्वारो विलसत्प्रतापमहिमा चैकातपत्राङ्कितो
विख्यातो भुवि यः समुद्रपरिखापर्यंतभूमीश्वरः ॥ ६० ॥

---

१ सरसि गच्छतीति सरोगः ।

तत्पुत्रोऽजनि सार्वभौमसदृशः प्रोद्यत्प्रतापानल-
ज्वालाजालमतल्लिकाभिरभितः प्रज्वालिताशिव्रजः ।
श्रीमत्साहिशिरोमणिस्त्वकबरो निःशेषदोषाधिपैः
नानारत्नकिरीटकोटिघटितः शुम्भि भितांह्रिद्वयः ॥ ६१ ॥
श्रीमद्धिंडीरपिण्डोपमितमितनभः पाण्डुराखण्डकीर्त्या
कृष्टं ब्रह्माण्डकाण्डं निजभुजयशसा मण्डपाडम्बरोऽस्मिन् ।
येनासौ पातिसाहिः प्रतपदकबरप्रख्यविख्यातकीर्ति-
र्जीयाल्लोकाय नाथः प्रभुरिति नगरस्यास्य वैराटनाम्नः ॥ ६२ ॥
जैनो धर्मोनवद्यो जगति विजयतेऽद्यापि सन्तानवर्ती
साक्षाद्दैगम्बरास्ते यतय इह यथा-जातरूपाङ्कलक्षाः ।
तस्मै तेभ्यो नमोस्तु त्रिसमयनियतं प्रोल्लसद्यत्प्रसादा-
दर्वागावर्द्धमानं प्रतिपथिविरहितो वर्तते मोक्षमार्गः ॥ ६३ ॥
श्रीमति काष्ठासंघे माथुरगच्छेऽथ पुष्करे च गणे ।
लोहाचार्यप्रभृतौ समन्वये वर्तमाने च ॥ ६४ ॥
आसीत् सूरिकुमारसेनविदित पट्टस्थभट्टारक-
स्याद्वादैरनवद्यवादनसरैर्वादीभकुम्भेभामित् ।
येनेदं युगयोगिभि परिभृतं सम्यग्दृगादित्रयीं
नानारत्नचितं वृषप्रवहणं निर्म्येऽद्य पारंपरम् ॥ ६५ ॥
तत्पट्टेऽजनि हेमचन्द्रगणभृद्भट्टारकोर्वीपति
काष्ठासङ्घनभोङ्गणे द्विनमणिर्मिथ्यान्धकारारिजित् ।
यन्नामस्मृतिमात्रतोन्यगामिनो विच्छायतामागताः
खद्योता इव वायवाप्युडुगणा भान्तीव भास्वत्पुरः ॥ ६६ ॥
तत्पट्टेऽभवदद्वितामवर्यथ: श्रीपद्मनन्दी गणी
त्रैवेद्यो जिन धर्मकर्मठमनाः प्रायः सतामग्रणीः ।
भव्यात्मप्रतिबोधनोद्भटमतिर्भट्टारको वाक्पटु-
र्यस्याद्यापि यशः शशाङ्कविशदं आभाति भूमण्डले ॥ ६७ ॥

१ सिंहः । २ तीर्थंकरधर्मिहपः ।

तत्पट्टे परमाख्यया मुनियशःकीर्तिश्च भट्टारको
नैर्ग्रन्थ्यंपदमार्हतं श्रुतबलादादाय निःशेषतः ।
सर्पिर्दुग्धदधीक्षुतैलमखिलं पञ्चापि यावद्रसान्
त्यक्त्वा जन्ममयं तदुग्रमकरोत् कर्मक्षयार्थं तपः ॥ ६८ ॥

तत्पट्टेऽस्त्यधुना प्रतापनिलयः श्रीक्षेमकीर्तिर्मुनिः
हेयादेयविचारचारुचतुरो भट्टारकोऽप्यंशुमान् ।
यस्यमोघधारणादिसमये पादोदबिन्दूत्करैः–
शान्तान्येव शिरांसि धौतकलुषाण्याशाम्बराणां नृणाम् ॥ ६९ ॥

तेषां तदाम्नायपरंपरायां
मासीत्पुरो डौकनिनाम धेयः ।
तद्वामिनः केचिदुपासकाः स्युः
सुरेन्द्रनामाप्युपमीयमानः ॥ ७० ॥

श्रीमालीकवंशशोभितपदश्चन्द्रजन्माश्रमः
श्रीमन्मङ्गलगोत्रलाञ्छनतया दक्षो. सुलक्ष्यो भुवि ।
धार्मिक्यविनिजातनिर्मलमतिर्भाति स्ववंशे रविः
साधु साधुरितीह लोकविदितो धर्मैकतानो धनी ॥ ७१ ॥

तस्यासन्निह सूनवः क्रमभुवो वेदैरिवेते मिताः–
दूदाख्य स्थरोध नाम अगमो तुर्यस्तिलोकाह्वयः ।
शास्त्राम्नायनरेश्वरात्मजनतावर्गस्य संपोषकाः
चत्वारोऽपि निजान्वयाम्बरदशाधाराः सुरद्रुमा इव ॥ ७२ ॥

तत्राद्यस्य सुतो बभौ बहुगुणो न्यायाद्धर्मप्राधिपो
येनैतज्जिनमन्दिरं स्फुटमिह प्रोत्तुङ्गमत्युन्नतम् ।
वैराटे नगरे निधाय विधिवत् पूजाश्च बह्व्यः कृत–
मत्रामुत्र सुखप्रदं स्वयशसा स्वान्यः समारोपितः ॥ ७३ ॥

श्रीमत्पूर्वदिशि प्रतापनगरी सोऽभूत् डिगीपोऽग्रणी
दुर्गन्धादिदुरापकालकलितः पालाय बन्धाश्रितः ।

पार्थारूयाथितविक्रम स्वशरणायाथातघात्रीभुजां
वैराटीयमहत्तरेष्वपि महत्सूत्राथितं यद्वचः ॥ ७४ ॥
उक्तभ्रातृयुगावरोपि जैननोपक्षीणांहसोः क्रमात्
सर्वैरेव गुणैर्वरस्तदुभयप्रोक्तोक्तिसंसूचितः ।
अन्यैः कैश्चिदपि प्रकर्षकरणैर्लब्धावकाशो गुणै-
र्नाम्ना 'कामन' साम्यधर्मनिरतो जीयादुपग्रामणी ॥ ७५ ॥
येनानन्तरिताभिधानविधिना सङ्घाधिनाथेन य-
च्छ्संसारामयशोमयं निजवपुः कर्तुं चिरादीप्सितम् ।
तन्मन्ये फलवत्तरं कृतमिद लब्ध्वाधुना मत्कविम्
वैराटे स्वयमागतं शुभवशात्सूर्मोदामल्लाह्वयम् ॥ ७६ ॥
प्रागह्याथि महात्मनात्ममतिना येनैतदध्यक्षतः
धर्मादेव सुखाश्रितो यदसुखं प्रायोऽस्त्यधर्मादिति ।
तस्मात्सूविदुषः कृपापरतया देशोपदेशात्पा-
च्छ्रीभट्टारकहेमचन्द्रविदिताम्नाये कृतात्मनः ॥ ७७ ॥
सामान्यादवगम्य धर्मफलितं ज्ञातुं विशेषादपि
भक्त्या यत्नमपीपृच्छदृषमःधिर्नाम्नाधुना कामन' ।
धर्मस्त्वं किमथास्य हेतुरथ किं साक्षात्फलं तत्वत
स्वामित्वं किमथेति सूरिरयदस्त सर्व प्रणुमः कवि' ॥ ७८ ॥
धर्मः प्राणिदया तदर्थमथ यत् सत्यव्रतादि स्फुटं
यद्वार्हत्प्रतिबिम्बपूजनमतः सत्पात्रदानादि यत् ।
तद्धेतुर्बहिरात्मवागाय फलं स्वर्गापवर्गश्रियो
भव्यस्तत्पदभागुपासकमणे धर्मं कुरुष्वादरात् ॥ ७९ ॥
सत्यं धर्मरसायनो यदि तदा मां शिक्षयोपक्रमात्

१ 'ख' पुस्तके " जननो " इतिपाठः । २ 'क' पुस्तके " सत्कविः " इतिपाठः । ३ 'क' पुस्तके " मात्महृवयः " इतिपाठः किन्तु न साधुः प्रतिभाति । ४ " क " पुस्तके " मनाश्रितो " इतिपाठः अयमपि न साधुः । ५ " क " " ख " पुस्तकयो " आत्माते " इतिपाठः । ६ उदयमात् ।

सारोद्धारमिवाप्यनुमहत्तया स्वल्पाक्षरं सारवत् ।
आर्षं चापि मृदूक्तिभिः स्फुटमनुच्छिष्टं नवीनं महत्-
न्निर्माणं परिधेहि सङ्घनृपतिः भूयोऽप्यवादीदिति ॥ ८० ॥
श्रुत्वेत्यादिवचःशतं मृदुरुचिर्निर्दिष्टनामा कवि
र्नेतुं यावदमोघतामभिमतं स्वोपक्रमायोद्यतः ।
तावत्तं जिनमन्दिरं कविमनोदृग्गोचरं व्याहर-
त्तावद्येति सहायतां गुरुवचो द्रव्यादिलब्धाविव ॥ ८१ ॥
उच्चैरुन्नतरस्थलाद्दृपदिष्टमार्गाश्रिता भित्तयः
पक्षैस्तम्भसमग्रकोष्ठघटिताः शालाश्चतस्रः शुभाः ।
मध्ये स्यात्तरवेदिकोत्तममनु कूटोऽस्ति मन्येत्वहं
वैराटस्य शिरःकिरीटघटितं चैत्यजिनानां गृहम् ॥ ८२ ॥
अनुपमशरमंख्यापूर्णवर्णावलीभि
र्लिखितमनुजनागामर्त्यमत्स्वसारम् ।
ध्वजचमरमृगेन्द्रस्यासनाद्यैश्छत्रैः
समवसरणशोभोद्भासि सत्पद्मत्र ॥ ८३ ॥
चित्राल्लीयद्दलीक्षिप्यास्त्रिजगतामासृष्टिसर्गक्रमा
दादेशादुपदेशनश्च नियतं श्रीक्षेमकीर्तेः गुरोः ।
गुर्वाज्ञानविभूषितस्य विदुषस्तात्त्वोपदेशादपि
वैराटस्य जिनालये लिपिकरस्तस्यायनामाप्यभूत् ॥ ८४ ॥
यत्र श्रावकसद्यमण्डितमही स्वर्गापले वासुतस्
स्याद्वादोपदमन्दवादविदिताभिज्ञल्पियत्राहंताः ।
निर्ग्रन्थाः शमिनस्तपोभिरता, निर्दग्धकर्मेन्धनाः
श्रीवैराटपुरस्थितं जिनगृहं तत्केन संवर्ण्यते ॥ ८५ ॥
पात्रेभ्यो गृहधर्मकर्मनिरतैर्नित्यं सदाचारिभिः
दीयन्तेऽभयभेषजश्रुतभवनान्नादीनि दानानि च ।
पूज्यन्ते जिनबिम्बशास्त्रमुनयो यत्रानिशं श्रेयसे
श्रीवैराटजिनालय प्रतिदिनं जीयाद्गरेण्यो वरः ॥ ८६ ॥

इत्याद्यनेकगुणराजिविराजमानं
संप्रेक्षणीयमनिशं जगदीक्षणानाम् ।
तत्र स्थितः किल करोति कविः कवित्वं
सद्धर्मलाभमपि गुणं जिनशासनं च ॥ ८७ ॥

इति श्रीस्याद्वादानवद्यगद्यपद्यविद्याविशारदविद्वन्मणिराजमल्लवि-
रचितायां श्रावकाचारापरनामलाटीसंहितायां साधुश्री
दूदात्मजफामनमनःसरोजारविन्दविकाशनैकमार्त्त-
ण्डमण्डलायमानायां कथामुखवर्णनं नाम
प्रथमः सर्गः ।

अथ द्वितीयः सर्गः ।

इत्थं कथामुखरसे रसिकाग्रणीर्यो
दूदात्मजो जयति फामननामधेयः ।
वैराटपट्टमहतां महनीयकीर्ति-
र्भोलकान्वयमयो गरिमाम्बुराशिः ॥ १ ॥

आशीर्वादः ।

अहिंसा परमो धर्मः स्यादधर्मस्तदत्ययात् ।
सिद्धान्तः सर्वतन्त्रोऽयं तद्विशेषोऽधुनोच्यते ॥ १ ॥
सर्वसावद्ययोगस्य निवृत्तिर्व्रतमुच्यते ।
यो मृषादिपरित्यागः सोऽस्तु तस्यैव विस्तरः ॥ २ ॥
तद्व्रतं सर्वतः कर्तुं मुनिरेव क्षमो महान् ।
तस्यैव मोक्षमार्गश्च भावी नान्यस्य जातुचित् ॥ ३ ॥
अतः सर्वात्मना सम्यक् कर्तव्यं तद्धि धीधनैः ।
सुदुर्लभे नरत्वेऽस्मिन् सुकविन्दुसमोपमे ॥ ४ ॥

१ अहिंसाधर्मनाशात् ।

दुरवधानतया मोहात्प्रमादाद्वापि शोधितम् ।
दुःशोधितं तदेव स्याद् ज्ञेयं चाशोधितं यथा ॥ २५ ॥
तस्मात्सद्व्रतरक्षार्थं पलदोपनिवृत्तये ।
आप्तमर्त्यैः स्वहस्तैश्च सम्यगन्नादि शोधयेत् ॥ २६ ॥
यथात्मार्थं सुवर्णादिक्रियार्थी सम्यगीक्षयेत् ।
व्रतवानपि गृह्णीयादाहारं सुनिरीक्षितम् ॥ २७ ॥
सधर्मेणानभिज्ञेन साभिज्ञेन विधर्मिणा ।
शोधितं पाचितं चापि नाहरेद् व्रतरक्षकः ॥ २८ ॥
ननु केनापि स्वीयेन सधर्मेण विधर्मिणा ।
शोधितं पाचितं भोज्यं सुज्ञेन स्पष्टचक्षुषा ॥ २९ ॥
मैवं यथोदितस्योच्चैर्विश्वासो व्रतहानये ।
अनार्यस्याप्यनार्द्रस्य संयमे नाधिकारिता ॥ ३० ॥
चलितत्वात्सीमश्चैव नूनं भाविव्रतक्षतिः ।
शैथिल्याद्धीयमानस्य संयमस्य कुतः स्थितिः ॥ ३१ ॥
शोधितस्य चिरात्तस्य न कुर्याद् ग्रहणं कृती ।
कालस्यातिक्रमाद्भूयो दृष्टिपूतं समाचरेत् ॥ ३२ ॥
केवलेनाग्निना पक्वं मिश्रितेन घृतेन वा ।
उषितान्नं न भुञ्जीत पिशिताशनदोषवित् ॥ ३३ ॥
तत्रातिकालमात्रत्वे परिणामगुणात्तथा ।
सम्मूर्च्छन्ते त्रसाः सूक्ष्माः ज्ञेयाः सर्वविदाज्ञया ॥ ३४ ॥
शाकपत्राणि सर्वाणि नादेयानि कदाचन ।
श्रावकैर्मांसदोषस्य वर्जनार्थं प्रयत्नतः ॥ ३५ ॥
तत्रावश्यं त्रसाः सूक्ष्माः केचित्स्युर्दृष्टिगोचराः ।
न त्यजन्ति कदाचित्तं शाकपत्राश्रयं मनाक् ॥ ३६ ॥
तस्माद्धर्मार्थिना नूनमात्मनो हितमिच्छता ।
आताम्बूलं दलं त्याज्यं श्रावकैर्दर्शनान्वितैः ॥ ३७ ॥

१ मन.शून्यतया । २ निर्दयस्य । ३ धार्मिकम् ।

रजन्यां भोजनं त्याज्यं नैष्ठिकैर्व्रतधारिभिः ।
पिशिताशनदोषस्य त्यागाय महदुद्यमैः ॥ ३८ ॥
ननु रात्रिभुक्तित्यागो नात्रोद्देश्यस्त्वया क्वचित् ।
षष्ठसंज्ञकविख्यातप्रतिमायामास्ते यतः ॥ ३९ ॥
सत्यं सर्वात्मना तत्र निशाभोजनवर्जनम् ।
हेतोः किन्त्वत्र दिग्मात्रं सिद्धं स्वानुभवागमात् ॥ ४० ॥
अस्ति कश्चिद्विशेषोऽत्र स्वल्पाभासोऽर्थतो महान् ।
सातिचारोऽत्र दिग्मात्रे तत्रातीचारवर्जिता ॥ ४१ ॥
निषिद्धमन्नमात्रादिस्थूलभोज्यं व्रते दृशः ।
न निषिद्धं जलाद्यत्र ताम्बूलाद्यपि वा निशि ॥ ४२ ॥
तत्र ताम्बूलतोयादिनिषिद्धं यावदञ्जसा ।
प्राणान्तेऽपि न भोक्तव्यमौषधादि मनीषिणा ॥ ४३ ॥
न खाद्यं भोजयेदन्नं कश्चिद्दर्शनिको निशि ।
अव्रतित्वादशक्यत्वात्पक्षमात्रात्मपाक्षिकः ॥ ४४ ॥
अस्ति तत्र कुलाचार[1] सैषा नाम्ना कुलक्रिया ।
तां विना दर्शनिको न स्यान्नस्यान्नामतस्तथा ॥ ४५ ॥
मांसमात्रपरित्यागादनस्तमितभोजनम् ।
व्रतं सर्वजघन्यं स्यात्तदधस्तात्स्यादक्रियाः ॥ ४६ ॥
नेत्थं यः पाक्षिकः[2] कश्चिद् व्रताभावादस्त्यव्रती ।
पक्षमात्रावलम्बी स्याद्व्रतमात्रं नचाचरेत् ॥ ४७ ॥
यतोऽस्य पक्षग्राहित्वमसिद्धं बाधसम्भवात् ।
लोपात्सर्वविदाज्ञायाः साध्या पाक्षिकता कुतः ॥ ४८ ॥
आज्ञा सर्वविदः सैव क्रियावान् श्रावको मतः ।
कश्चित्सर्वनिकृष्टोऽपि न त्यजेत्स कुलक्रियाः ॥ ४९ ॥

१ अन्यमासम् । २ क ख पुस्तकयोः "स्यान्नाम्याद्गुणात्मनस्तथा" इति पाठः किन्त्वनेनैकाक्षराधिक्यम् ।

उक्तेषु वक्ष्यमाणेषु दर्शनिकव्रतेषु च ।
सन्देहो नैव कर्तव्यः कर्तव्यो व्रतसंग्रहः ॥ ५० ॥
प्रसिद्धं सर्वलोकेऽस्मिन् निशायां दीपसन्निधौ ।
पतङ्गादि पतत्येव प्राणिजातं त्रसात्मकम् ॥ ५१ ॥
म्रियन्ते जन्तवस्तत्र अन्यापातात्समक्षतः ।
तत्कलेवरसम्मिश्रं तत्कुतः स्यादनामिषम् ॥ ५२ ॥
युक्तायुक्तविचारोऽपि नास्ति वा निशि भोजने ।
मक्षिका नेक्ष्यते सम्यक् का कथा मसकस्य तु ॥ ५३ ॥
तस्मात्संयमवृद्ध्यर्थं निशायां भोजनं त्यजेत् ।
शक्तितस्तच्चतुष्कं स्यादन्नाद्यन्यतमादि वा ॥ ५४ ॥
यत्रोषितं न भक्ष्यं स्यादन्नादि पलदोषतः ।
आसवारिष्टसन्धानाथानादीनां कथात्र का ॥ ५५ ॥
रूपगन्धरसस्पर्शाच्चलितं नैव भक्षयेत् ।
अवश्यं त्रसजीवानां निकोतानां समाश्रयात् ॥ ५६ ॥
दधितक्ररसादीना भक्षणं वक्ष्यमाणत. ।
कालादर्वाक् , ततस्तूर्द्धं न भक्ष्यं तदभक्ष्यवत् ॥ ५७ ॥
इत्येवं पलदोषस्य दिग्मात्रं लक्षणं स्मृतम् ।
फलितं भक्षणादस्य वक्ष्यामि शृणुताधुना ॥ ५८ ॥
सिद्धान्ते सिद्धमेवैतत् सर्वतः सर्वदेहिनाम् ।
मांसांशस्याशनादेव भावः संक्लेशितो भवेत् ॥ ५९ ॥
न कदाचित् मृदुत्वं स्याद्योग्यं व्रतधारणे ।
द्रव्यतो कर्मरूपस्य तच्छक्तेरनतिक्रमात् ॥ ६० ॥
अनाद्यनिधना नूनमचिन्त्या वस्तुशक्तयः ।
न प्रतर्क्याः कुतर्कैर्यम् स्वभावोऽतर्कगोचरः ॥ ६१ ॥
अयस्कान्तोपलाकृष्टसूचीवत्तद्द्वयोःपृथक् ।
अस्ति शक्तिर्विभावाख्या मिथो बन्धादिकारिणी ॥ ६२ ॥

न वाच्यमविशिष्टत्वं वस्तुवासमवाप्यम् ।
धत्तूरादिविषाणामिन्द्रियार्थेषु दर्शनात् ॥ ६३ ॥

उक्तं च ।

यद्वस्तुपाय गुणदोषमूनैर्निमित्तमभ्यन्तरमूलहेतोः ।
अध्यात्मवृत्तस्य तदङ्गभूतमभ्यन्तरं केवलमप्यलं ते ॥ ३ ॥

एव मांसाशनाद्भावोऽवश्य संक्लिष्टो भवेत् ।
तस्मादमानवस्य स्यात्ततो भाविततोऽसुखम् ॥ ६४ ॥
एतदुक्त परिज्ञाय श्रद्धाय च मुहुर्मुहुः ।
ततो विरमणं कार्यं श्रावकैर्मंसवादिभिः ॥ ६५ ॥
सर्वं लक्षणमन्यस्य पञ्चम्यर्णीचारवर्जनम् ।
यत्यागेन भवेच्छुद्धः श्रावको व्रतवर्णनम् ॥ ६६ ॥
इतीवमानमुच्यस्य मादनोन्मादमुच्यते ।
मानाशापूरितेत्नुत्वात्म्यायादयन्नकारणम् ॥ ६७ ॥
भङ्गादिफलधत्तूर त्वरयामादिफलं च यत् ।
मादनादेतुरन्यद्वा सर्वं मद्यवदीरितम् ॥ ६८ ॥
एवमित्यादि यद्वस्तु सुरेव मदकारकम् ।
तन्निश्चिल त्यजेद्धीमान् श्रेयसे ह्यात्मनो गृही ॥ ६९ ॥
दोषत्वं भागमतिभ्रंशमनोमिथ्यात्ववोधनम् ।
रागादयस्ततः कर्म ततो जन्मेह दुःखता ॥ ७० ॥
दिग्मात्रमत्र व्याख्यातं नावन्मात्रैकहेतुनः ।
त्याज्यास्त्याज्यामः पुरो ध्यायामाध्यप्रसरे बैयम् ॥ ७१ ॥
माक्षिकं मक्षिकाणां हि मांसासृक्पीडनोद्भवम् ।
प्रसिद्धं सर्वलोके स्यादागमेष्वपि सूचितम् ॥ ७२ ॥
त्याज्याम्नभक्षणे नूनं पिशिताशनदूषणम् ।
त्रसास्ता मक्षिका यस्मादामिषं तत्कलेवरम् ॥ ७३ ॥

---

१ उन्मादकारणात् । २ स्नोकमात्रम् । ३ विस्तरतः । ४ 'क' पुस्तके "त्यजम्" इतिपाठः ।

किञ्च तत्र निकोतादिजीवाः संसर्गजाः क्षणात् ।
सम्मूर्च्छिमा न मुञ्चन्ति तत्सङ्गं जातु ऋल्यवत् ॥ ७४ ॥
यथा पक्वं च शुष्कं वा फलं शुद्धं न जातुचित् ।
प्रासुकं न भवेत्क्वापि नित्यं साधारणं यतः ॥ ७५ ॥
अयमर्थो यथाग्न्यादि कारणात्प्रासुकं भवेत् ।
शुष्कं वाप्यग्निपक्वं वा प्रासुकं न तथाविधम् ॥ ७६ ॥
प्राग्वदत्राप्यतीचाराः सन्ति केचिज्जिनागमात् ।
यथा पुष्परसः पीतः पुष्पाणामासवो यथा ॥ ७७ ॥
उदुम्बरफलान्येव नादेयानि दृगात्मभिः ।
नित्यं साधारणान्येव त्रसाङ्गैराश्रितानि च ॥ ७८ ॥
अत्रोदुम्बरशब्दस्तु नूनं स्यादुपलक्षणम् ।
तेन साधारणास्त्याज्या ये वनस्पतिकायिकाः ॥ ७९ ॥

उक्तं च ।

मूलग्गपोरबीआ गाहा तह साधकन्दबीअरुहा ।
सम्मुच्छिमा य भणिया पत्तेयाणंतकाया य ॥ ४ ॥

१ अन्वयार्थः — येषां [illegible]

साहारणमाहारं साहारणमाणपाणगहणं च ।
साहारणजीवाणं साहारणलक्खणं भणियं ॥ ५ ॥
जत्थेक्कमरइ जीवो तत्थ दु मरणं हवे अणंताणं ।
पंकमइ जत्थ इक्को पंकमणं तत्थ णंताणं ॥ ६ ॥
मूलेऽत्रा यथाप्रोक्ता फलकाद्यङ्कादय. ।
न भक्ष्या दैवयोगाद्वा रोगिणाप्यौषधच्छलात् ॥ ८० ॥
तद्भक्षणे महापाप प्राणिसन्दोहपीडनात् ।
सर्वज्ञाज्ञाबलादेतद्दर्शनीय दृगद्भिः ॥ ८१ ॥
ननु केनानुमीयेत हेतुना पक्षधर्मता ।
प्रत्यक्षानुपलब्धित्वाज्जीवाभावोऽवधार्यते ॥ ८२ ॥
मैवं प्रागेव प्रोक्तत्वात्स्वभावोऽतर्कगोचर. ।
तेन सर्वविदाज्ञाया स्वीकर्तव्य यथोदितम् ॥ ८३ ॥
अन्यत्तु तत्तदाज्ञाया सृष्टुमीहामहे परम् ।
यदेकाक्षशरीराणां भक्ष्यत्वं प्रोक्तमर्हता ॥ ८४ ॥

१ साधारणनामकर्मोदयवशवर्तिनामनन्तजीवानां उत्पन्नप्रथमसमये आहारपर्याप्तिः, तत्कार्यमाहारवर्गणायातपुद्गलस्कन्धानां खलरसभागपरिणमनं साधारणमेव समकालं च भवति । तथा शरीरपर्याप्तिः तत्कार्यमाहारवर्गणायातपुद्गलस्कन्धानां शरीराकारपरिणमनं । इन्द्रियपर्याप्तिः तत्कार्यं च स्पर्शनादीन्द्रियाकारपरिणमनम् । आनपानपर्याप्तिः तत्कार्यं च उच्छ्वासनिश्वासग्रहणं । साधारणं समकालं च भवति । तथा प्रथमसमयोत्पन्नानामिव तत्रैव शरीरे द्वितीयादिसमयोत्पन्नानामप्यनन्तानन्तजीवानां पूर्वपूर्वसमयोत्पन्नानामनन्तानन्तजीवैः सहआहारपर्याप्त्यादिकं सर्वं सदृशं समकालं च भवति । तदिदं साधारणलक्षणं भणितम् । नि नियमाद् अनन्तसंख्यावच्छिन्नानां जीवानां गोद् क्षेत्रं स्थानं ददातीति निगोद् कर्म । तदुक्ता जीवा निगोदा इत्युच्यन्ते । अथवा नियतानां अनन्तानन्तजीवानां एका एव गां भूमिं क्षेत्रं निवासं ददातीति निगोद् तत् शरीरं येषां ते निगोदा. । एकोच्छ्वासनिश्वासे अष्टादश वारं जन्म कृत्वा अष्टादशवारं मरणं कुर्वन्ति । २ यत्र एक म्रियते जीवः तत्र तु मरणं भवेत् अनन्तानाम् चक्रमते यत्र एकः चक्रमणं तत्र अनन्तानाम् । ३ आगमनम्—जन्म । ४ विचारगोचरो नास्ति ।

सत्यं बहुवधादत्र भक्ष्यत्वं नोक्तमर्हता ।
कुतश्चित्कारणादेव नोह्यंच्यं जिनशासनम् ॥ ८५ ॥
एवं चेत्तत्र जीवास्ते कियन्तो वद कोविद ।
हेतोर्यदत्र सर्वज्ञैरभक्ष्यत्वमुदीरितम् ॥ ८६ ॥
घनाङ्गुलासंख्यभागमात्रं तद्वपुः स्मृतम् ।
तत्रैकस्मिन् शरीरे स्युः प्राणिनोऽनन्तसंज्ञिताः ॥ ८७ ॥

उक्तं च ।

एयणिगोयसरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा ।
सिद्धेहिं अणंतगुणा सव्वेण वितीदकालेण ॥ ७ ॥
इदमेवात्र तात्पर्यं तावन्मात्रावगाहके ।
केचिन्मिथोवगाह्याः स्युरेकीभावादिवापरे ॥ ८८ ॥

उक्तं च ।

जंबूदीवे भरहे कोसलसाकेय तग्घरायं च ।
खंधंडर आवासा पुलविसरीराणि दिट्ठंता ॥ ८ ॥
एतन्मत्वार्हता प्रोक्तमाजवंजवभीरुणा ।
कन्दादिलक्षणत्यागे कर्तव्या सुमतिः सती ॥ ८९ ॥
एवमन्यदपि त्याज्यं यत्साधारणलक्षणम् ।
साश्रितं विशेषेण तद्द्वियुक्तस्य का कथा ॥ ९० ॥
साधारणं च केषांचिन्मूलं स्कन्धस्तथाग्रमान् ।
शाखाः पत्राणि पुष्पाणि पर्वदुग्धफलानि च ॥ ९१ ॥
... स्यस्तानि केषांचित्समस्तान्यथदेहिनाम् ।
...मूलानि सर्वाणि ज्ञात्वा सम्यक् परित्यजेत् ॥ ९२ ॥
...साधारणास्तत्र मूलकाश्चार्द्रकादयः ।
...पापप्रदाः सर्वे मूलोन्मूल्या गृहिव्रतैः ॥ ९३ ॥
...धसत्रपयः पर्वं सुयंसाधारणा यथा ।
... घाकंदुग्धं साधारणं मतम् ॥ ९४ ॥

पुष्पसाधारणाः केचित्करीरसर्षपादयः ।
पर्वसाधारणाश्चेक्षुदण्डाः साधारणाभकाः ॥ ९५ ॥
फलसाधारणं स्यात्तु प्रोक्तोदुम्बरपञ्चकम् ।
शाखासाधारणाः स्यात्तु कुमारीपिण्डकादयः ॥ ९६ ॥
कुंपलानि च सर्वेषां मृदूनि च यथागमम् ।
सन्ति साधारणान्येव प्रोक्तकालावधेरधः ॥ ९७ ॥
शाकाः साधारणाः केचित्केचित्प्रत्येकमूर्तयः ।
वल्यः साधारणाः काश्चित्काश्चित्प्रत्येककाः स्फुटम् ॥ ९८ ॥
तत्स्वरूपं परिज्ञाय कर्तव्या विरतिस्ततः ।
उत्सर्गात्सर्वतस्त्यागो यथाशक्त्यापवादतः ॥ ९९ ॥
शक्तितो विरतौ चापि विवेकः साधुरात्मनः ।
निर्विवेकात्कृतं कर्म विफलं चाल्पफलं भवेत् ॥ १०० ॥
कदाचिन्महतोऽज्ञानाद्दुर्दैवाभिर्विवेकिनाम् ।
तत्केवलमनर्थाय कृतं कर्म शुभाशुभम् ॥ १०१ ॥
यथात्र श्रेयसे केचिद्धिंसां कुर्वन्ति कर्मणि ।
अज्ञानात्स्वर्गहेतुत्वं मन्यमानाः प्रमादिनः ॥ १०२ ॥
तदवश्यं तत्कामेन भवितव्यं विवेकिनाम् ।
देशतो वस्तुसंख्याया शक्तितो व्रतधारिणा ॥ १०३ ॥
विवेकस्यावकाशोऽस्ति देशतो विरतावपि ।
आदेयं प्रासुकं योग्यं नादेयं तद्विपर्ययम् ॥ १०४ ॥
न च स्वात्मेच्छया किंचिदात्तमादेयमेव तत् ।
नात्तं यत्तदनादेयं भ्रान्तोन्मत्तकवाक्यवत् ॥ १०५ ॥
तस्मादप्रासुकं शुद्धं तुच्छहिंसाकरं शुभम् ।
सर्वं त्यक्तुमशक्येन ग्राह्यं तत्कश्चिदल्पशः ॥ १०६ ॥

१ दुष्कर्मयोगात् । २ विरतिसमीहकेन । ३ गृहीतम् ।

यावत्साधारणं त्याज्यं त्याज्यं यावत्त्रसाश्रितम् ।
एतत्त्यागे गुणोऽवश्यं संभवेद् स्वल्पदोषता ॥ १०७ ॥
ननु साधारणं यावत्तत्सर्वं लक्ष्यते कथम् ।
सत्यं जिनागमे प्रोक्ताल्लक्षणादेव लक्ष्यते ॥ १०८ ॥
तल्लक्षणं यथा भङ्गे समभागः प्रजायते ।
तावत्साधारणं ज्ञेयं शेषं प्रत्येकमेव तत् ॥ १०९ ॥
तत्राप्यल्पतरीकरणं योग्यं योगेषु वस्तुषु ।
यतस्तृष्णानिवृत्त्यर्थमेतत्सर्वं प्रकीर्तितम् ॥ ११० ॥
इति संक्षेपतः ख्यातं साम्ना मूलगुणाष्टकम् ।
अर्थादुत्तरसंज्ञाश्च गुणाःस्युर्गृहमेधिनाम् ॥ १११ ॥
तांस्तानवसरे तत्र वक्ष्यामः स्वल्पविस्तरात् ।
इतः प्रसङ्गतो वक्ष्ये सप्तव्यसनोज्झनम् ॥ ११२ ॥
द्यूतमांससुरावेश्याखेटचौर्यपराङ्गनाः ।
महापापानि सप्तेति व्यसनानि त्यजेद्बुधः ॥ ११३ ॥
अक्षपाशादिनिक्षिप्तं वित्ताज्जयपराजयम् ।
क्रियायां विद्यते यत्र सर्वं द्यूतमिति स्मृतम् ॥ ११४ ॥
प्रसिद्धं द्यूतकर्मेदं सद्यो बन्धकरं स्मृतम् ।
यावदापन्मयं ज्ञात्वा त्याज्यं धर्मानुरागिणा ॥ ११५ ॥
तत्र बह्वः कथाः सन्ति द्यूतस्यानिष्टसूचिकाः ।
रतास्तत्र नराः पूर्वं नष्टा धर्मसुतादयः ॥ ११६ ॥
श्रूयते दृश्यते चैव द्यूतस्यैतद्विजृम्भितम् ।
दरिद्राः कर्तितोपाङ्गा नराः प्रास्ताधिकारकाः ॥ ११७ ॥
न वाच्यं द्यूतमात्रं स्यादेकं तद्व्यसनं मनाक् ।
चौर्यादि सर्वव्यसनपतिरेव न संशयः ॥ ११८ ॥

१ उत्तरगुणान् । २ कष्टम् ।

विशन्ते प्राप्यतीचारास्तत्समा इव केचन ।
जेतव्यास्तेऽपि तन्मार्गे लग्नैः प्रत्यग्रबुद्धिभिः ॥ ११९ ॥
अन्योन्यस्पर्धया यत्र विजिगीषा द्वयोरिति ।
व्यवसायादृते कर्म द्यूतातीचार इष्यते ॥ १२० ॥
यथाऽहं धावयाम्यत्र यूयं धाव्यत्र धावत ।
यद्यतिरिक्तं गच्छेयं त्वत्तो गृह्णामि चेप्सितम् ॥ १२१ ॥
इत्येवमाद्योऽप्यन्ये द्यूतातीचारसंज्ञिकाः ।
क्षपणीया क्षणादेव द्यूतत्यागोन्मुखैर्नरैः ॥ १२२ ॥
मांसस्य भक्षणे दोषाः प्रागेवात्र प्रपञ्चिताः ।
पुनरुक्तभयाद्भूयो नीता नोद्देशप्रक्रियाम् ॥ १२३ ॥
कर्म तत्र प्रवृत्तिः स्यादासक्तिर्व्यसनं महत् ।
प्रवृत्तिर्यत्र त्याज्या स्यादासक्तेस्तत्र का कथा ॥ १२४ ॥
मैरेयमपि नादेयमित्युक्तं प्रागितो यतः ।
सतोऽस्य वक्तव्यतायां पिष्टपेषणदूषणम् ॥ १२५ ॥
प्राग्वदत्र विशेषोऽस्ति महानर्थाविवक्षितः ।
सामान्यलक्षणाभावे तद्विशेषभ्रांतिर्यथा ॥ १२६ ॥
प्रवृत्तिस्तु क्रियामात्रमासक्तिर्व्यसनं महत् ।
त्यक्तायां तत्प्रवृत्तौ वै का कथा सक्तिवर्जने ॥ १२७ ॥
तदलं बहुनोक्तेन तद्गन्धोऽप्यघकारणम् ।
स्मृतमात्रं हि तन्नाम धर्मध्वंसाय जायते ॥ १२८ ॥
पण्यस्त्री प्रसिद्धा या वित्तार्थं सेवते नरम् ।
तन्नाम दारिका दासी वेश्या पत्तननायिका ॥ १२९ ॥
तत्त्यागः सर्वतः श्रेयान् श्रेयोऽर्थं यततां नृणाम् ।
मद्यमांसादिदोषान्वै निःशेषान् त्यक्तुमिच्छताम् ॥ १३० ॥
आस्तां तत्सङ्गमे दोषा दुर्गतौ पतनं नृणाम् ।
इहैव नरकं नूनं वेश्याव्यासक्तचेतसाम् ॥ १३१ ॥

१ विना । २ अधिकम् । ३ मद्यम् । ४ हानि. । ५ धनकुर्वताम् ।

उक्तं च ।

या खादन्ति पलं पिबन्ति च सुरां जल्पन्ति मिथ्यावचः ।
स्निह्यन्ति द्रविणार्थमेव विदधत्यर्थप्रतिष्ठाक्षतिम् ।
नीचानामपि दूरवक्रमनसः पापात्मिकाः कुर्वते ।
लालापानमहर्निशं न नरकं वेश्यां विहायाऽपरम् ॥ ९ ॥
रजकशिलासदृशीभिः कुक्कुरकर्परसमानचरिताभिः ।
वेश्याभिर्यदिसङ्गः कृतमिव परलोकवार्ताभिः ॥ १० ॥
प्रसिद्धं बहुभिस्तस्यां प्राप्ता दुःखपरंपराः ।
श्रेष्ठिना चारुदत्तेन विख्यातेन यथा परा: ॥ १३२ ॥
यावान् पापभरो यादृग्दारिका दारिकर्मणः ।
कविनापि न वा तावान् क्वापि वक्तुं च शक्यते ॥ १३३ ॥
आस्तां च तद्व्रतादत्र चित्रकादिरुजो नृणाम् ।
नारकादिगतिभ्रान्तेर्यद् दुःखं जन्मजन्मनि ॥ १३४ ॥
न वाच्यमेकमेवैतत्तावन्मात्राल्पदोषतः ।
द्यूतादिव्यसनासक्तेः कारणं धर्मध्वंसकृत् ॥ १३५ ॥
सुगमत्वाद्धि विस्तारप्रयासो न कृतो मया ।
दोषः सर्वप्रसिद्धोऽत्र यावंदूकतया कृतम् ॥ १३६ ॥
सन्ति तत्राप्यतीचाराश्चतुर्थव्रतवर्तिनः ।
निर्देक्ष्यामो वयं तांस्तान् तत्तत्रावसरे यथा ॥ १३७ ॥
ख्यातः पण्याङ्गनात्यागः संक्षेपादक्षप्रत्ययात् ।
आखेटकपरित्यागः साधीयानिति शस्यते ॥ १३८ ॥
अन्तर्भावोऽस्ति तस्यापि गुणाणुव्रतसंज्ञके ।
अनर्थदण्डत्यागाख्ये बाह्यानर्थक्रियादिवत् ॥ १३९ ॥
तत्तत्रावसरेऽवश्यं वक्ष्यामो नातिविस्तरात् ।
प्रसङ्गाद्वा तदत्रापि दिग्मात्रं वक्तुमर्हति ॥ १४० ॥

---

१ अतिवक्तृतया । २ अतिशयेन साधुः प्रसिद्धत्वात् ।

ननु चानर्थदण्डोऽस्ति भोगादन्यत्र याः क्रियाः ।
आत्मानन्दाय यत्कर्म तत्कथं स्यात्तथाविधम् ॥ १४१ ॥
यथा स्रक्चन्दनं योषिद्वस्त्राभरणभोजनम् ।
सुखार्थं सर्वमेवैतत्तथाखेटक्रियापि च ॥ १४२ ॥
मैवं तीव्रानुभागस्य बन्धः प्रमादगौरवात् ।
प्रमादस्य निवृत्यर्थं स्मृतं व्रतकदम्बकम् ॥ १४३ ॥
स्रक्चंदनवनितादौ क्रियाया वा सुखाप्तये ।
भोगभावो सुखं तत्र हिंसा स्यादानुषङ्गिकी ॥ १४४ ॥
आखेटके हिंसायाः भावः स्यात्क्रूरजन्मिनः ।
पश्चाद्दैवानुयोगेन भोगः स्याद्वा नवा क्वचित् ॥ १४५ ॥
हिंसानन्देन तेनोच्चैरौद्रध्यानेन प्राणिनाम् ।
नारकस्यायुषो बन्धः स्यान्निर्दिष्टो जिनागमे ॥ १४६ ॥
ततोऽवश्यं हि हिंसायां भावश्चानर्थदण्डकः ।
त्याज्यः प्रागेव सर्वेभ्यः संक्लेशेभ्यः प्रयत्नतः ॥ १४७ ॥
तत्रावान्तररूपस्य मृगयाभ्यासकर्मणः ।
त्यागः श्रेयानवश्यं स्यादन्यथाऽमानबन्धनम् ॥ १४८ ॥
अतीचारास्तु तत्रापि सन्ति पापानुयायिनः ।
यानपास्य व्रतिकोऽपि निर्मलो भवति ध्रुवम् ॥ १४९ ॥
कार्यं विनापि क्रीडार्थं कौतुकार्थमथापि च ।
कर्तव्यमटनं नैव वापीकूपादिवर्त्मसु ॥ १५० ॥
पुष्पादिवाटिकासूच्चैर्वनेषूपवनेषु च ।
सरित्तडागक्रीडाद्रिसरःशून्यगृहादिषु ॥ १५१ ॥
शस्याधिष्ठानक्षेत्रेषु गोष्ठीनेष्वन्यवेश्मसु ।
कारागारगृहेषूच्चैर्मठेषु नृपवेश्मसु ॥ १५२ ॥

---

१ अनर्थदण्डाख्यम् । २ प्रमत्तचेष्टया । ३ मृगसमारिधः । ४ क ख पुस्तकयोः "नारकस्यायुषो बन्धः" इति पाठः ।

एवमित्यादिस्थानेषु विनाकार्यं न जातुचित् ।
कौतुकादिविनोदार्थं न गच्छेन्मृगयोज्झितः ॥ १५३ ॥
तस्करादिविघातार्थं स्थानेषु चण्डभीरुषु ।
योद्धुमुत्सुकभूपादियोग्यासु युद्धभूमिषु ॥ १५४ ॥
गीतनादविवाहादिनाट्यशालादिवेश्मसु ।
हिंसारम्भेषु कूपादिखननेषु च कर्मसु ॥ १५५ ॥
न कर्तव्या मतिर्धीरैः स्वप्नमात्रे मनागपि ।
केवलं कर्मबन्धाय मोहस्यैतद्धि स्फूर्जितम् ॥ १५६ ॥
गच्छन्नन्यात्मकार्यार्थं गच्छेद् भूमिं विलोकयन् ।
युगदघ्नां दृशा सम्यगीर्यासंशुद्धिहेतवे ॥ १५७ ॥
तत्र गच्छन्न छिन्द्याद्वा तरुपर्णफलादिकान् ।
पद्भ्यां दोर्भ्यां न कुर्वीत जलस्फालनकर्म च ॥ १५८ ॥
शर्करादिपरिक्षेपं प्रस्तरैर्भूमिकुट्टनम् ।
इतस्ततोऽटनं चापि क्रीडाकूर्दनकर्म च ॥ १५९ ॥
हिंसोपदेशमित्यादि न कुर्वीत विचक्षणः ।
प्राक्पदव्यभिचारत्वं सर्वतोनर्थदण्डमुक् ॥ १६० ॥
स्याच्चातो मृगयादोषः सर्वज्ञाज्ञानतिक्रमात् ।
अर्थात्त्वाऽव्रतादीनां व्रतादीनां महीयसः ॥ १६१ ॥
अथ चौर्यव्यसनस्य त्यागः श्रेयानिति स्मृतः ।
तृतीयाणुव्रतस्यान्तर्भावो चान्यत्र सूत्रितः ॥ १६२ ॥
तल्लक्षणं यथा सूत्रे निर्दिष्टं पूर्वसूरिभिः ।
अदत्तादानं तत्स्तेयं स्तेयविवर्जितैः ॥ १६३ ॥
व्यसनं स्यात्तदासक्तिः प्रवृत्तिर्वा मुहुर्मुहुः ।
यद्वा व्रतादिना शुद्धैः परित्यक्तुमशक्यता ॥ १६४ ॥
मद्यमद्व्यसनं नूनं निषिद्धं गृहमेधिनाम् ।
संसारदुःखभीरूणामवतारमुमुक्षिणाम् ॥ १६५ ॥

देवशास्त्रगुरून्नत्वा बन्धुवर्गात्मसाक्षिकम् ।
पत्नी पाणिगृहीता स्यात्तदन्या चेटिका मता ॥ १७८ ॥
तत्र पाणिगृहीता या सा द्विधा लक्षणाद्यथा ।
आत्मज्ञातिः परज्ञातिः कर्मभूरूढिसाधनात् ॥ १७९ ॥
परिणीतात्मज्ञातिश्च धर्मपत्नीति सैव च ।
धर्मकार्ये हि सध्रीची यागादौ शुभकर्मणि ॥ १८० ॥
सूनुस्तस्याः समुत्पन्नः पितुर्धर्मेऽधिकारवान् ।
स पिता तु परोक्षः स्याद्दैवात्प्रत्यक्ष एव वा ॥ १८१ ॥
स सूनुः कर्मकार्येऽपि गोत्ररक्षादिलक्षणे ।
सर्वलोकाविरुद्धत्वादधिकारी नचेतरः ॥ १८२ ॥
परिणीतानात्मज्ञातिर्या पितृसाक्षिपूर्वकम् ।
भोगपत्नीति सा ज्ञेया भोगमात्रैकसाधनात् ॥ १८३ ॥
आत्मज्ञाति परज्ञातिः सामान्य वनिता तु या ।
पाणिग्रहणशून्या चेच्चेटिका सुरतप्रिया ॥ ८४ ॥
चेटिका भोगपत्नी च द्वयोर्भोगाङ्गमात्रतः ।
लौकिकोक्तिविशेषोऽपि न भेदः पारमार्थिकः ।
भोगपत्नी निषिद्धा स्यात्सर्वतो धर्मवेदिनाम् ।
ग्रहणस्याविशेषेऽपि दोषो भेदस्य सम्भवात् ॥ ८६ ॥
अस्ति दोषविशेषोऽत्र जिनदृष्टश्च कश्चन ।
येन दास्याः प्रसङ्गेन वज्रलेपाघसंचयः ॥ १८७ ॥
भावेषु यदि शुद्धत्वं हेतुः पुण्यार्जनादिषु ।
एवं वस्तुस्वभावत्वात्तद्गतात्तद्धि नश्यति ॥ १८८ ॥

उक्तं च ।

मुनिरेव हि जानाति द्रव्यसंयोगजं गुणम् ।
मक्षिका वमनं कुर्यात्तद्विट् छर्दिविनाशिनी ॥ ११ ॥
ननु यथा धर्मपत्न्यां यैव दास्यां क्रियैव सा ।
विशेषानुपलब्धेश्च कथं भेदोऽवधार्यते ॥ १८९ ॥

अस्याः संसर्गवेलायामिङ्गिते नरि वैरिभिः ।
सापराधतया दण्डो नृपादिभ्यो भवेद्ध्रुवम् ॥ २०२ ॥
केचिज्जैना वदन्त्येवं गृहीतैषा स्वलक्षणात् ।
नृपादिभिर्गृहीतत्वान्नीतिमार्गानतिक्रमात् ॥ २०३ ॥
विख्यातो नीतिमार्गोऽयं स्वामी स्याज्जगतां नृपः ।
वस्तुतो यस्य न स्वामी तस्य स्वामी महीपतिः ॥ २०४ ॥
तन्मतेन गृहीता सा पित्राद्यैरावृतापि या ।
यस्याः संसर्गतो भीतिर्जायते न नृपादितः ॥ २०५ ॥
तन्मते द्विधैव चौरी गृहीतागृहीतभेदतः ।
सामान्यवनिता या स्यादगृहीतात्मसंमतः ॥ २०६ ॥
एतन्मतं परिज्ञाय स्वानुभूतिसमक्षतः ।
पराङ्गनासु नारीषु बुद्धिधीधनशालिभिः ॥ २०७ ॥
सा निषिद्धास्ति सर्वत्र लोकेऽत्रापीह गर्हिता ।
सा स्वैरिणी गृहीतान्या लोकद्वयहितैषिणाम् ॥ २०८ ॥
त्याज्या कन्या पराधीना यदि तृष्णोपशान्तये ।
विमृश्य मानसे सम्यक् लोकद्वयविरोधिनीम् ॥ २०९ ॥
भुक्ते मदन्धो नष्टा पश्चादनुस्मरन् ।
वै दत्तादानतया नूनमिहामुत्र च दुःखिता ॥ २१० ॥
कृतस्य न परं तत्र हठात्संगोऽपि केचन ।
स्वाङ्गेऽपि मदस्या दुःखितेऽपि दुःखिता ॥ २११ ॥
आत्मा यत्राङ्गे कृत्य आत्मनीयानुवेदिनाम् ।
तत्र परस्त्रीसङ्गे दोषाद्यन्ताद्विकृतात्म ॥ २१२ ॥
इहैवानर्थसन्तापो नानारोगेन दुःखदा ।
तत्र परलोके नरकदुःखानन्तानि ॥ २१३ ॥
परस्त्रीसङ्गं विरता हन्त कन्यां सदीमते ।
तत्र अनन्तसमस्तमाहात्म्यमेतत्सदा ध्रुवम् ॥ २१४ ॥

ततः क्षुत्तृड्विनाशः स्याद्वपुःकार्श्यं ततो भवेत् ।
ततः स्यादुद्यमाभावस्ततः स्याद्द्रविणक्षतिः ॥ २१५ ॥
उपहास्यं च लोकेऽस्मिन् ततःशिष्टैरमान्यता ।
इंगिते राजदण्डः स्यात्सर्वस्वहरणात्मकः ॥ २१६ ॥
भवेद्वा मरणं मोहादन्यस्त्रीलीनचेतसः ।
चित्रं किमत्र रोगाणामुद्भवोऽपि भवेद् ध्रुवम् ॥ २१७ ॥
यद्वाऽमुत्रेह यद्दुःखं यावद्वाच्यं च दुःसहम् ।
अन्यस्त्रीव्यसनासक्तः सर्वं प्राप्नोति निश्चितम् ॥ २१८ ॥
अस्मदीयमतं चैतद्दोषांश्चेत्ताद्धि मुञ्चति ।
न मुञ्चति तथा मन्दो ज्ञानदोषोऽपि मूढधीः ॥ २१९ ॥

इतिश्री स्याद्वादानवद्यगद्यपद्यविद्याविशारदविद्वन्मणिराजमल्ल
विरचितायां श्रावकाचारापरनाम लाटीसंहितायां साधुश्री
दूदात्मज फामनमनःसरोजारविन्दविकाशनैकमार्तण्ड
मण्डलायमानायां दर्शनप्रतिमा नामाधिकारमध्ये
मूलगुणाष्टकप्रतिपाल सप्तव्यसनोपवर्णनो
नाम द्वितीयः सर्गः ।

अथ तृतीयः सर्गः ।

दूदाङ्गजः फामननामधेयः
स्ववंशवेश्मप्रबलप्रदीपः ।
जीयाज्जिनेशांघ्रिसरोरुहालि-
रम्यां कथायां रसिकावतंसः ॥ १ ॥

इत्याशीर्वादः ।

सम्यक्त्वं दुर्लभं लोके सम्यक्त्वं मोक्षसाधनम् ।
ज्ञानचारित्रयोर्बीजं मूलं धर्मतरोरिव ॥ १ ॥

---

१ ज्ञाते सति । २ मुकुटः ।

तदेव सत्पुरुषार्थस्तदेव परमं पदम्।
तदेव परमं ज्योतिः तदेव परमं तपः ॥ २ ॥
तदेवेष्टार्थसंसिद्धिस्तदेवास्ति मनोरथः।
अक्षातीतं सुखं तत्स्यात्तत्कल्याणपरंपरा ॥ ३ ॥
विना येनात्र संसारे भ्रमतिस्म शरीरभाक्।
भ्रमिष्यति तथानन्तं कालं भ्रमति संप्रति ॥ ४ ॥
अपि येन विना ज्ञानमज्ञानं स्यात्तदक्षवत्।
चारित्रं स्यात्कुचारित्रं तपो बालतपः स्मृतम् ॥ ५ ॥
अप्रातिविस्तरेणालं कर्म यावच्छुभात्मकम्।
सर्वं तत्पुरतः सम्यक् सर्वं मिथ्या तदत्ययात् ॥ ६ ॥
तत्र तत्त्वार्थश्रद्धानं सूत्रे सम्यक्त्वलक्षणे।
प्रामाणिकं तदेव स्याच्छ्रुतकेवलिभिर्मतम् ॥ ७ ॥
तत्त्वं जीवास्तिकायाद्यास्तत्स्वरूपोऽर्थसंज्ञकः।
श्रद्धानं चानुभूतिः स्यात्तेषामेवेति निश्चयात् ॥ ८ ॥
सामान्यादेकमेवैतत्तद्विशेषविधेर्द्विधा।
परोपचारसापेक्षाद्वैतोद्वैतवशादपि ॥ ९ ॥
तद्विशेषविधिस्तावन्निश्चयाद्व्यवहारतः।
सम्यक्त्वं स्याद्द्विधा तत्र निश्चयश्चैकधा यथा ॥ १० ॥
शुद्धस्यानुभवः साक्षाज्जीवस्योपाधिवर्जितः।
सम्यक्त्वं निश्चयान्नूनमर्थादेकविधं हि तत् ॥ ११ ॥

उक्तं च।

दर्शनमात्मविनिश्चितिरात्मपरिज्ञानमिष्यते बोधः।
स्थितिरात्मनि चारित्रं कुत एतेभ्यो भवति बन्धः ॥ १ ॥
व्यवहाराच्च सम्यक्त्वं ज्ञातव्यं लक्षणाद्यथा।
जीवादि सप्ततत्त्वानां श्रद्धानं गाढमव्ययम् ॥ १२ ॥

उक्तं च ।

जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं तेसिमधिगमो णाणं ।
रायादीपरिहरणं चरणं एसो हु मोक्खपहो ॥ २ ॥
यद्वा व्यवहृते वाच्यं स्थूलं सम्यक्त्वलक्षणम् ।
आप्तागमधर्मादिश्रद्धानं दूषणोज्झितम् ॥ १३ ॥

उक्तं च ।

नास्ति चार्हत्परो देवो धर्मो नास्ति दयापरः ।
तपःपरं च नैर्ग्रन्थ्यमेतत्सम्यक्त्वलक्षणम् ॥ ३ ॥
हेतुनापि द्विधोद्दिष्टं सम्यक्त्वं लक्षणाद्यथा ।
तन्निसर्गादधिगमादित्युक्तं पूर्वसूरिभिः ॥ १४ ॥
निसर्गस्तु स्वभावोक्तिः सोपायोऽधिगमो मतः ।
अर्थोऽयं शब्दमात्रत्वादर्थेन सूच्यतेऽधुना ॥ १५ ॥
नाम्ना मिथ्यात्वकर्मैकमस्ति सिद्धमनादितः ।
सम्यक्त्वोत्पत्तिवेलायां ग्रन्थनस्मात्त्रिधा भवेत् ॥ १६ ॥
अथोऽपूर्वानिवृत्त्याख्यं प्रसिद्धं करणत्रयम् ।
करणान्तर्मुहूर्तस्य मध्ये त्रेधास्ति नान्यथा ॥ १७ ॥

उक्तं च ।

जंतेण कोद्दवं वा पढमुवसमसम्मभाव जंतेण ।
मिच्छादव्वं तु तिहा असंखगुणहीण दव्वकमा ॥ ४ ॥
त्रिधाभूतस्य तस्यैवमेवं मिथ्यात्वकर्मणः ।
भेदास्त्रयश्चतुष्कं च स्यादनन्तानुबन्धिनः ॥ १८ ॥
एतत्समुदितं प्रोक्तं दर्शनं मोहसप्तकम् ।
प्रागुपशमसम्यक्त्वे तत्सप्तोपशमो भवेत् ॥ १९ ॥

उक्तं च ।

पढमं पढमे णियदं पढमं विदियं च सव्वकालेसु ।
खाइय सम्मत्तो पुण जत्थ [illegible] केवलं जहि ॥ ५ ॥

निसर्गेऽधिगमे वापि सम्यक्त्वे तुल्यकारणम् ।
दृङ्मोहसप्तकस्य स्यादुभयाभावसंज्ञकः ॥ २० ॥

उक्तं च ।

सत्तण्हं उवसमदो उवसमसम्मो खयादु खइओ य ।
विदिय कसाउदयादो असंजदो होदि सम्मो सो ॥ ६ ॥

किन्तु सत्यन्तरङ्गेऽस्मिन् हेतावुत्पद्यते च यत् ।
नैसर्गिकं हि सम्यक्त्वं विनोपदेशादि हेतुना ॥ २१ ॥
यत्पुनश्चान्तरङ्गेऽस्मिन् सति हेतौ तथाविधि ।
उपदेशादिसापेक्षं स्यादधिगमसंज्ञकम् ॥ २२ ॥
यथा निमित्तमत्रास्ति केषाञ्चिद्बिम्बदर्शनम् ।
अर्हतामितरेषां तु जिनमहिमदर्शनम् ॥ २३ ॥
धर्मश्रवणमेकेषां यद्वा देवर्द्धिदर्शनम् ।
जातिस्मरणमेकेषां वेदनाभिभवस्तथा ॥ २४ ॥
एवमित्यादि बहवो विद्यन्ते बाह्यहेतवः ।
सम्यक्त्वप्रथमोत्पत्तावन्तरङ्गानतिक्रमात् ॥ २५ ॥
अस्त्येतल्लक्षणं नूनमस्ति सम्यग्दृगात्मनः ।
जिनोक्तं श्रद्दधात्येव जीवाद्यर्थं यथास्थितम् ॥ २६ ॥

उक्तं च ।

णो इंदियेसु विरदो णो जीवे थावरे तसे चावि ।
जो सद्दहदि जिणुत्तं सम्माइट्ठी अविरदो सो ॥ ७ ॥

ननूक्तः किमनाख्यानस्ति हि वाऽपरोऽप्यतः ।
लक्ष्यते येन सद्दृष्टिर्लक्षणेनाङ्कितः पुमान् ॥ २७ ॥
अत्रास्त्यपि लक्ष्माणि सन्ति सम्यग्दृगात्मनः ।
सम्यक्त्वेनाविनाभूतैर्यैश्च संलक्ष्यते सुदृक् ॥ २८ ॥

१ [illegible] ।
[illegible] भवेत् ॥
२ [illegible] । ३ [illegible] । ४ [illegible] ।

उक्तमोक्षं सुखं ज्ञानमनादेयं दृगात्मनः ।
नादेयं कर्मसर्वस्वं तद्वद्दृष्टोपलब्धितः ॥ २९ ॥
सम्यक्त्वं वस्तुतः सूक्ष्मं केवलज्ञानगोचरम् ।
गोचरं चावधिस्वान्तपर्ययज्ञानयोर्द्वयोः ॥ ३० ॥
न गोचरं मतिज्ञानश्रुतविज्ञानयोर्मनाक् ।
नापि देशावधेस्तत्र विषयोऽनुपलब्धितः ॥ ३१ ॥
अस्त्यात्मनो गुणः कश्चित्सम्यक्त्वं निर्विकल्पकम् ।
तद्दृङ्मोहोदयान्मिथ्यास्वादरूपमनादितः ॥ ३२ ॥
दैवात्कालादिसंलब्धौ प्रत्यासन्ने भवार्णवे ।
भव्यभावविपाकाद्वा जीवः सम्यक्त्वमश्नुते ॥ ३३ ॥
प्रयत्नमन्तरेणापि दृङ्मोहोपशमो भवेत् ।
अन्तर्मुहूर्तमात्रं च गुणश्रेण्यनतिक्रमात् ॥ ३४ ॥
अस्त्युपशमसम्यक्त्वं दृङ्मोहोपशमाद्यथा ।
पुंसोऽवस्थान्तराकारं नाकारं चिद्विकल्पके ॥ ३५ ॥
सामान्याद्वा विशेषाद्वा सम्यक्त्वं निर्विकल्पकम् ।
सत्तारूपं पारिणामि प्रदेशेषु परं चितः ॥ ३६ ॥
तत्रोल्लेखस्तमोनाशे तमोरेरिव रश्मिभिः ।
दिशः प्रसादमासेदुः सर्वतो विमलाशया ॥ ३७ ॥
दृङ्मोहोपशमे सम्यग्दृष्टेरुल्लेख एव वै ।
शुद्धत्वं सर्वदेशेषु त्रिधा बन्धापहारि यत् ॥ ३८ ॥
यथा वा मद्यधत्तूरपाकस्यास्तंगतस्य वै ।
उल्लेखो मूर्छितो जन्तुरुल्लाघः स्यादमूर्छितः ॥ ३९ ॥
दृङ्मोहस्योदयान्मूर्छा वैचित्यं वा तथा भ्रमः ।
प्रशान्ते तस्य मूर्छाया नाशाज्जीवो निरामयः ॥ ४० ॥

१ ऐन्द्रियिकम् । २ अवधिमनःपर्ययवयोः । ३ प्रयोजनि । ४ दिशः । ५ क ख पुस्तकयोः परिणामि इति पाठः । ७ सूर्यस्य । ८ निर्मलतमसंपुः । ९ दृष्टान्तः इति उल्लेखः । १० भ्रमशून्यत्वम् ।

श्रद्धानादिगुणाःबाह्यं लक्ष्म सम्यग्दृगात्मनः ।
न सम्यक्त्वं तदेवेति सन्ति ज्ञानस्य पर्ययाः ॥ ४१ ॥
अपि चात्मानुभूतिश्च ज्ञानं ज्ञानस्यपर्ययात् ।
अर्थाज्ज्ञानं न सम्यक्त्वमस्ति चेद्बाह्यलक्षणम् ॥ ४२ ॥
यथोल्लापो हि दुर्लक्ष्यो लक्ष्यते स्थूललक्षणैः ।
वाग्मनःकायचेष्टानामुत्साहादिगुणात्मकैः ॥ ४३ ॥
नन्वात्मानुभवः साक्षात्सम्यक्त्वं वस्तुतःस्वयम् ।
सर्वतः सर्वकालस्य मिथ्यादृष्टेरसम्भवात् ॥ ४४ ॥
नैवं यतोऽनभिज्ञोऽसि सत्सामान्यविशेषयोः ।
अप्यनाकारसाकारलिङ्गयोस्तद्यथोच्यते ॥ ४५ ॥
आकारोऽर्थविकल्पः स्यादर्थः स्वपरगोचरः ।
सोपयोगो विकल्पो वा ज्ञानस्यैतद्धि लक्षणम् ॥ ४६ ॥
नाकारः स्यादनाकारो वस्तुतो निर्विकल्पता ।
शेषानन्तगुणानां तल्लक्षणं ज्ञानमन्तरा ॥ ४७ ॥
नन्वस्ति वास्तवं सर्वं सामान्यं च विशेषवत् ।
तत्किञ्चित्स्यादनाकारं किञ्चित्साकारमेव तत् ॥ ४८ ॥
सत्यं सामान्यवज्ज्ञानमर्थाच्चास्ति विशेषवत् ।
यत्सामान्यमनाकारं साकारं यद्विशेषभाक् ॥ ४९ ॥
ज्ञानाद्विना गुणाः सर्वे प्रोक्ताः सल्लक्षणाङ्किताः ।
सामान्याद्वा विशेषाद्वा सत्यं नाकारलक्षणाः ॥ ५० ॥
ततो वक्तुमशक्यत्वान्निर्विकल्पस्य वस्तुनः ।
तदुल्लेखं समालेख्य ज्ञानद्वारा निरूप्यते ॥ ५१ ॥
स्वापूर्वार्थद्वयोरेव ग्राहकं ज्ञानमेकशः ।
नात्र ज्ञानमपूर्वार्थो ज्ञानं ज्ञानं परः परः ॥ ५२ ॥
स्वार्थो हि ज्ञानमात्रस्य ज्ञानमेकं गुणश्चितः ।
परार्थाः स्वात्मसम्बन्धिगुणाः शेषाः सुखादयः ॥ ५३ ॥

१ [illegible] । २ [illegible] । ३ अर्थमर्थं ।

तद्यथा सुखदु:खादिभावो जीवगुण: स्वयम् ।
ज्ञानं तद्वेदकं नूनं नार्थाद्ज्ञानं सुखादिमत् ॥ ५४ ॥
अपि सन्ति गुणा: सम्यक् श्रद्धानादिविकल्पका: ।
उद्देशो लक्षणं तेषां तत्परीक्षाधुनोच्यते ॥ ५५ ॥
तत्रोद्देशो यथा नाम श्रद्धारुचिप्रतीतय: ।
चरणं च यथाम्नायादर्थात्तत्त्वार्थगोचरम् ॥ ५६ ॥
तत्त्वार्थाभिमुखी बुद्धि: श्रद्धा सात्म्यं रुचिस्तथा ।
प्रतीतिस्तु तथेति स्यात्स्वीकारश्चरणं क्रिया ॥ ५७ ॥
अर्थादाद्यत्रिकं ज्ञानं ज्ञानस्यैवार्थपर्ययात् ।
क्रिया वाक्कायचेतोभिर्व्यापार: शुभकर्मसु ॥ ५८ ॥
व्यस्तास्त्वेते समस्ता वा सद्दृष्टेर्लक्षणं न वा ।
सपक्षे वा विपक्षे वा सन्ति यद्वा न सन्ति वा ॥ ५९ ॥
स्वानुभूतिसनाथाश्चेत्सन्ति श्रद्धादयो गुणा: ।
स्वानुभूतिं विनाऽऽभासा नार्थाच्छ्रद्धादयो गुणा: ॥ ६० ॥
तस्माच्छ्रद्धादय: सर्वे सम्यक्त्वं स्वानुभूतिवत् ।
न सम्यक्त्वं तदाभासा मिथ्याश्रद्धादिवत्स्वत: ॥ ६१ ॥
सम्यङ्मिथ्याविशेषाभ्यां विना श्रद्धादिमात्रका: ।
सपक्षवद्विपक्षेऽपि वृत्तित्वाद् व्यभिचारिण: ॥ ६२ ॥
अर्थाच्छ्रद्धादय: सम्यग्दृष्टिश्रद्धादयो यत: ।
मिथ्याश्रद्धादयो मिथ्या नार्थाच्छ्रद्धादयो यत: ॥ ६३ ॥
ननु तत्त्वरुचि: श्रद्धा श्रद्धामात्रैकलक्षणात् ।
सम्यङ्मिथ्याविशेषाभ्यां सा द्विधा तु कुतोऽर्थत: ॥ ६४ ॥
नैवं यत: समव्याप्ति: श्रद्धास्वानुभवद्वयो: ।
नूनं नानुपलब्धार्थे श्रद्धा खरविषाणवत् ॥ ६५ ॥
विना स्वात्मानुभूतिं तु या श्रद्धा श्रुतमात्रत: ।
तत्त्वार्थानुगताप्यर्थाच्छ्रद्धा नानुपलब्धित: ॥ ६६ ॥

१ भिन्ना भिन्ना: । २ अग्रे वर्तुनि ।

श्रद्धानादिगुणा:बाह्यं लक्ष्म सम्यग्दृगात्मन: ।
न सम्यक्त्वं तदेवेति सन्ति ज्ञानस्य पर्यया: ॥ ४१ ॥
अपि चात्मानुभूतिश्च ज्ञानं ज्ञानस्यपर्ययात् ।
अर्थाद्ज्ञानं न सम्यक्त्वमस्ति चेद्बाह्यलक्षणम् ॥ ४२ ॥
यथोल्लाघो हि दुर्लक्ष्यो लक्ष्यते स्थूललक्षणै: ।
वाग्मन:कायचेष्टानामुत्साहादिगुणात्मकै: ॥ ४३ ॥
नन्वात्मानुभव: साक्षात्सम्यक्त्वं वस्तुत:स्वयम् ।
सर्वत: सर्वकालस्य मिथ्यादृष्टेरसम्भवात् ॥ ४४ ॥
नैवं यतोऽनभिज्ञोऽसि सत्सामान्यविशेषयो: ।
अप्यनाकारसाकारलिङ्गयोस्तद्यथोच्यते ॥ ४५ ॥
आकारोऽर्थविकल्प:स्यादर्थ:स्वपरगोचर: ।
सोपयोगो विकल्पो वा ज्ञानस्यैतद्धि लक्षणम् ॥ ४६ ॥
नाकार: स्यादनाकारो वस्तुतो निर्विकल्पता ।
शेषानन्तगुणानां तल्लक्षणं ज्ञानमन्तरा ॥ ४७ ॥
नन्वस्ति वास्तवं सर्वं सामान्यं च विशेषवत् ।
तत्किञ्चित्स्यादनाकारं किञ्चित्साकारमेव तत् ॥ ४८ ॥
सत्यं सामान्यवद्ज्ञानमर्थाद्वास्ति विशेषवत् ।
यत्सामान्यमनाकारं साकारं यद्विशेषभाक् ॥ ४९ ॥
ज्ञानाद्विना गुणा सर्वे प्रोक्तसल्लक्षणाङ्किता: ।
[१] सामान्याद्वा विशेषाद्वा सन्त्यनाकारलक्षणा: ॥ ५० ॥
ततोवक्तुमशक्यत्वान्निर्विकल्पस्य वस्तुन: ।
तदुल्लेख्यं समालेख्य ज्ञानद्वारा निरूप्यते ॥ ५१ ॥
[illegible]
[illegible] ॥ ५२ ॥
[illegible] ।
परार्था: स्वात्मसम्बन्धिगुणा: शेषा: सुखादय: ॥ ५३ ॥

---

१ आरोग्यभाव: । २ स्वगर्थद्वयोरित्यपि पाठ: । ३ आत्मन. ।

तद्यथा सुखदुःखादिभावो जीवगुणः स्वयम् ।
ज्ञानं तद्वेदकं नूनं नार्थाज्ज्ञानं सुखादिमत् ॥ ५४ ॥
अपि सन्ति गुणाः सम्यक् श्रद्धानादिविकल्पकाः ।
उद्देशो लक्षणं तेषां तत्परीक्षाधुनोच्यते ॥ ५५ ॥
तत्रोद्देशो यथा नाम श्रद्धारुचिप्रतीतयः ।
चरणं च यथाम्नायादर्थात्तत्त्वार्थगोचरम् ॥ ५६ ॥
तत्त्वार्थाभिमुखी बुद्धिः श्रद्धा सात्म्यं रुचिस्तथा ।
प्रतीतिस्तु तथेति स्यात्स्वीकारश्चरणं क्रिया ॥ ५७ ॥
अर्थादाद्यत्रिकं ज्ञानं ज्ञानस्यैवार्थपर्ययात् ।
क्रिया वाक्कायचेतोभिर्व्यापारः शुभकर्मसु ॥ ५८ ॥
व्यस्ताश्चैते समस्ता वा सद्दृष्टेर्लक्षणं न वा ।
सपक्षे वा विपक्षे वा सन्ति यद्वा न सन्ति वा ॥ ५९ ॥
स्वानुभूतिसनाथाश्चेत्सन्ति श्रद्धादयो गुणाः ।
स्वानुभूतिं विनाभासाः नार्थाच्छ्रद्धादयो गुणाः ॥ ६० ॥
तस्माच्छ्रद्धादयः सर्वे सम्यक्त्वं स्वानुभूतिमत् ।
न सम्यक्त्वं तदाभासा मिथ्याश्रद्धादिवत्स्वतः ॥ ६१ ॥
सम्यग्मिथ्याविशेषाभ्यां विना श्रद्धादिमात्रकाः ।
सपक्षवद्विपक्षेऽपि वृत्तित्वाद् व्यभिचारिणः ॥ ६२ ॥
अर्थाच्छ्रद्धादयः सम्यग्दृष्टिश्रद्धादयो यतः ।
मिथ्याश्रद्धादयो मिथ्या नार्थाच्छ्रद्धादयो यतः ॥ ६३ ॥
ननु तत्त्वरुचिः श्रद्धा श्रद्धामात्रैकलक्षणात् ।
सम्यग्मिथ्याविशेषाभ्यां सा द्विधा तु कुतोऽर्थतः ॥ ६४ ॥
नैवं यतः समव्याप्तिः श्रद्धास्वानुभवद्वयोः ।
नूनं नानुपलब्धेऽर्थे श्रद्धा खरविषाणवत् ॥ ६५ ॥
विना स्वात्मानुभूतिं तु या श्रद्धा श्रुतमात्रतः ।
तत्त्वार्थानुगताप्यर्थाच्छ्रद्धा नानुपलब्धितः ॥ ६६ ॥

---

१ भिन्ना भिन्नाः । २ अत्रैव वपुनि ।

लब्धिः स्यादविशेषाद्वा सदसतोरुन्मत्तवत् ।
नोपलब्धिरिहाख्याता तच्छेषानुपलब्धिवत् ॥ ६७ ॥
ततोस्ति यौगिकी रूढिः श्रद्धा सम्यक्त्वलक्षणम् ।
अर्थादप्यविरुद्धं स्यात्सूक्तं स्वात्मानुभूतिवत् ॥ ६८ ॥
गुणाश्चान्ये प्रसिद्धा ये सद्दृष्टेः प्रशमादयः ।
बहिर्दृष्ट्या यथा स्वं ते सन्ति सम्यक्त्वलक्षणम् ॥ ६९ ॥
तत्राद्यःप्रशमो नाम संवेगश्च गुणः क्रमात् ।
अनुकम्पा तथास्तिक्यं वक्ष्ये तल्लक्षणं यथा ॥ ७० ॥
प्रशमो विषयेषूच्चैर्भावक्रोधादिकेषु च ।
लोकासंख्यातमात्रेषु स्वरूपाच्छिथिलं मनः ॥ ७१ ॥
सद्यः कृतापराधेषु यद्वा जीवेषु जातुचित् ।
तद्वधादिविकाराय न बुद्धिः प्रशमो मतः ॥ ७२ ॥
हेतुस्तत्रोदयाभावः स्यादनन्तानुबन्धिनाम् ।
अपि शेषकषायाणां नूनं मन्दोदयोंऽशतः ॥ ७३ ॥
आरम्भादि क्रिया तस्य दैवाद्वा स्यादकामतः ।
अन्तः शुद्धेः प्रसिद्धत्वान्नहेतु प्रशमक्षते. ॥ ७४ ॥
सम्यक्त्वेनाविनाभूतः प्रशमः परमो गुणः ।
अन्यत्र प्रशमं मन्ये प्याभासः स्यात्तदत्ययात् ॥ ७५ ॥
संवेगः परमोत्साहो धर्मे धर्मफले चितः ।
सधर्मेष्वनुरागो वा प्रीतिर्वा परमेष्ठिषु ॥ ७६ ॥
धर्मः सम्यक्त्वमात्रात्मा शुद्धस्यानुभवोऽथवा ।
तत्फलं सुखमत्यक्षमक्षयं क्षायिकं च यत् ॥ ७७ ॥
इतरत्र पुनारागस्तद्गुणेष्वनुरागतः ।
नातद्गुणानुरागोपि तत्फलस्याप्यलिप्सया ॥ ७८ ॥
[illegible] नाभिलाषो निरूप्यते ।
शेषमधर्माद्वा निवृत्तिस्तत्फलादपि ॥ ७९ ॥

१ [illegible] भाति । २ [illegible] ।

नथाशङ्क्यं निषिद्धः स्यादभिलाषो भोगेष्वलम् ।
शुद्धोपलब्धिमात्रेऽपि हेयो भोगाभिलाषवत् ॥ ८० ॥
अर्थात्सर्वोऽभिलाषः स्यान्मिथ्या कर्मोदयात्परम् ।
स्वार्थसार्थक्रियासिद्ध्यै नालं प्रत्यक्षतो यतः ॥ ८१ ॥
कस्यचित्तस्यापि सद्भावे नेष्टसिद्धिरहेतुतः ।
अभिलाषस्याभावेऽपि स्वेष्टसिद्धिस्तु हेतुतः ॥ ८२ ॥
यशःश्रीसुतमित्रादि सर्वं कामयते जगत् ।
नास्य लाभोऽभिलाषेऽपि विना पुण्योदयात्सतः ॥ ८३ ॥
जरामृत्युदरिद्रादि नापि कामयते जगत् ।
तत्संयोगो बलादस्ति सतस्तत्राशुभोदयात् ॥ ८४ ॥
संवेगो विधिरूपः स्यान्निर्वेदस्तु निषेधनात् ।
स्याद्विवक्षावशाद्द्वैतं नार्थादर्थान्तरं तयोः ॥ ८५ ॥
त्यागः सर्वाभिलाषस्य निर्वेदो लक्षणात्तथा ।
संवेगोऽप्यथवा धर्मसाभिलाषो न धर्मवान् ॥ ८६ ॥
नापि धर्मः क्रियामात्रं मिथ्यादृष्टेरिहार्थतः ।
नित्यं रागादिसद्भावात्प्रत्युताऽधर्म एव हि ॥ ८७ ॥
नित्यं रागी कुदृष्टिः स्यान्न स्यात्क्वचिदरागवान् ।
अस्तरागोऽस्ति सद्दृष्टिर्नित्यं वा स्यादरागवान् ॥ ८८ ॥
अनुकम्पा कृपा ज्ञेया सर्वसत्त्वेष्वनुग्रहः ।
मैत्रीभावोऽथ माध्यस्थ्यं निःशल्यं वैरवर्जनात् ॥ ८९ ॥
दृङ्मोहानुदयस्तत्र हेतुर्वाच्योऽस्ति केवलम् ।
मिथ्याज्ञानं विना न स्याद्वैरभावः क्वचिद्यथा ॥ ९० ॥
मिथ्या यत्परतः स्वस्य स्वस्माद्वा परजन्मिनाम् ।
इच्छेत्तत्सुखदुःखादि मृत्युर्वा जीवितं मनाक् ॥ ९१ ॥
अस्ति यस्यैतदज्ञानं मिथ्यादृष्टिः स शल्यवान् ।
अज्ञानाद्धन्तुकामोऽपि क्षमो हन्तुं न चापरम् ॥ ९२ ॥

समता सर्वभूतेषु यानुकम्पा परत्र सा ।
अर्थतः स्वानुकम्पा स्याच्छल्यवच्छल्यवर्जनात् ॥ ९३ ॥
रागाद्यशुद्धभावानां सद्भावे बन्ध एव हि ।
न बन्धस्तदसद्भावे तद्विधेया कृपात्मनि ॥ ९४ ॥
आस्तिक्यं तत्त्वसद्भावे स्वतः सिद्धे गतिश्रितः ।
धर्मे हेतौ च धर्मस्य फले चात्मादि धर्मवित् ॥ ९५ ॥
अस्त्यात्मा जीवसंज्ञो यः स्वतःसिद्धोऽप्यमूर्तिमान् ।
चेतनः स्यादजीवस्तु यावानप्यस्त्यचेतनः ॥ ९६ ॥
अस्त्यात्मानादितो बद्धः कर्मभिः कार्मणात्मकैः ।
कर्ता भोक्ता च तेषां हि तत्क्षयान्मोक्षभाग्भवेत् ॥ ९७ ॥
अस्ति पुण्यं च पापं च तद्धेतुस्तत्फलं च वै ।
आस्रवाद्यास्तथा सन्ति तस्य संसारिणोऽनिशम् ॥ ९८ ॥
अस्त्येवं पर्ययादेशाद्बन्धो मोक्षस्तु तत्फलम् ।
अपि शुद्धनयादेशात् शुद्धः सर्वोऽपि सर्वदा ॥ ९९ ॥
तत्रायं जीवसंज्ञो यः स्वयंवेद्यश्चिदात्मकः ।
सोऽहमन्ये तु रागाद्या हेयाः पौद्गलिका अमी ॥ १०० ॥
इत्याद्यनादिजीवादि वस्तुजातं यतोऽखिलम् ।
निश्चयव्यवहाराभ्यामास्तिक्यं तत्तथामतिः ॥ १०१ ॥
सम्यक्त्वेनाविनाभूतस्वानुभूत्येकलक्षणम् ।
आस्तिक्यं नाम सम्यक्त्वं मिथ्यास्तिक्यं ततोऽन्यथा ॥ १०२ ॥
ननु वै केवलज्ञानमेकं प्रत्यक्षमर्थतः ।
न प्रत्यक्षं कदाचित्तच्छेषज्ञानचतुष्टयम् ॥ १०३ ॥
यदि वा देशतोऽध्यक्षमाक्ष्यं स्वात्मसुखादिवत् ।
स्वसंवेदनप्रत्यक्षमास्तिक्यं तत्कुतोऽर्थतः ॥ १०४ ॥
सत्यमाद्यद्वये ज्ञानं परोक्षं परसंविदि ।
प्रत्यक्षं[१] स्वानुभूतौ तु दृङ्मोहोपशमादितः ॥ १०५ ॥

१ स्वार्थतः ।

स्वात्मानुभूतिमात्रं स्यादास्तिक्यं परमो गुणः ।
भवेन्मा वा परद्रव्ये ज्ञानमात्रे परत्वतः ॥ १०६ ॥
अपि तत्र परोक्षत्वे जीवादौ परवस्तुनि ।
गाढं प्रतीतिरस्यास्ति यथा सम्यग्दृगात्मनः ॥ १०७ ॥
न तथास्ति प्रतीतिर्वा नास्ति मिथ्यादृशः स्फुटम् ।
दृङ्मोहस्योदयात्तत्र भ्रान्तेः सद्भावतोऽनिशम् ॥ १०८ ॥
ततः सिद्धमिदं सम्यग्युक्तिस्वानुभवागमात् ।
सम्यक्त्वेनाविनाभूत सत्रास्तिक्य गुणो महान् ॥ १०९ ॥

उक्तं च ।

संवेओ णिव्वेओ णिंदण गरहा य उवसमो भत्ती ।
वच्छलं अणुकंपा अट्ठगुणा हुंति सम्मत्ते ॥ ८ ॥
इत्थं गाथार्थसूत्रेऽपि प्रशमादिचतुष्टयम् ।
नातिरिक्तं यतोऽस्त्यत्र लक्षणस्योपलक्षणम् ॥ ११० ॥
अस्त्युपलक्षणं यत्तल्लक्षणस्यापि लक्षणम् ।
तत्तथास्त्यादिलक्ष्यस्य लक्षणं चोत्तरस्य तत् ॥ १११ ॥
यथा सम्यक्त्वभावस्य संवेगो लक्षणं गुणः ।
स चोपलक्ष्यते भक्त्या वात्सल्येनाथवार्हताम् ॥ ११२ ॥
तत्र भक्तिरनौद्धत्यं वाग्वपुश्चेतसां शमात् ।
वात्सल्यं तद्गुणोत्कर्षहेतवे सोद्यतं मनः ॥ ११३ ॥
भक्तिर्वा नाम वात्सल्यं न स्यात्संवेगमन्तरा ।
संवेगो हि दृशो लक्ष्म द्वावेतावुपलक्षणौ ॥ ११४ ॥
दृङ्मोहस्योदयाभावात्प्रसिद्धः प्रशमो गुणः ।
तत्रापि व्यञ्जकं बाह्यान्निन्दनं चापि गर्हणम् ॥ ११५ ॥
निन्दनं तत्र दुर्वाररागादौ दुष्टकर्मणि ।
पश्चात्तापकरो बन्धो नोपेक्ष्यो नाप्यपेक्षितः ॥ ११६ ॥

---

१ अन्यत् न । २ संवेगः ।

गर्हणं तत्परित्यागः पञ्चगुर्वात्मसाक्षिकः ।
निष्प्रमादतया नूनं शक्तितः कर्महानये ॥ ११
अर्थादेव द्वयं सूक्तं सम्यक्त्वस्योपलक्षणम् ।
प्रशमस्य कषायाणामनुद्रेकाविशेषतः ॥ ११८
शेषमुक्तं यथाम्नायात् ज्ञातव्यं परमागमात् ।
आगमाब्धेः परंपारं माहग्गन्तुं क्षमः कथम् ॥
एवमित्यादिमत्यर्थं प्रोक्तं सम्यक्त्वलक्षणम् ।
कैश्चिल्लक्षणिकैः सिद्धैः प्रसिद्धं सिद्धसाधनात् ।
भवेद्दर्शनिको नूनं सम्यक्त्वेन युतो नरः ।
दर्शनप्रतिमाभासः क्रियावानपि तद्विना ॥ १२
देशतः सर्वतश्चापि क्रियारूपं व्रतादि यत् ।
सम्यक्त्वेन विना सर्वमव्रतं कुतपश्च तत् ॥ १
ततः प्रथमतोऽवश्यं भाव्यं सम्यक्त्वधारिणा ।
अव्रतिनाणुव्रतिना मुनिनाथेन सर्वतः ॥ १२१
श्रुते सम्यक्त्वभावं यो धत्ते व्रततपःक्रियाम् ।
तस्य मिथ्यागुणस्थानमेकं स्यादागमे स्मृतम् ॥
प्रेक्कृतोपि नरो नैव मुच्यते कर्मबन्धनात् ।
सएव मुच्यतेऽवश्यं यदा सम्यक्त्वमश्नुते ॥
किञ्च प्रोक्ता क्रियाप्येषा दर्शनप्रतिमात्मिका ।
सम्यक्त्वेन युता चेत्सा तद्गुणस्थानवर्तिना ॥
तत्राप्यस्ति विशेषोऽयंतुर्यपञ्चमयोर्द्वयोः ।
योगाद्वा रूढितश्चापि गुणस्थानविशेषयोः ॥ १२
सैवैका क्रिया साक्षादष्टमूलगुणात्मिका ।
व्यसनाद्युज्झिता चापि दर्शनेन समन्विता ॥ १

१ पण्डितोपि ।

एवमेव च सा चेत्स्यात्कुलाचारक्रमात्परम् ।
विना नियमादि तावत्प्रोच्यते सा कुलक्रिया ॥ १२९ ॥
भावशून्या क्रिया यस्मान्नेष्टसिध्यै भवन्ति हि ।
क्रियामात्रफलं चास्ति स्वल्पभोगानुषङ्गजम् ॥ १३० ॥
दर्शनप्रतिमा नास्य गुणस्थानं न पञ्चमम् ।
केवलं पाक्षिकः स स्याद्गुणस्थानादसंयतः ॥ १३१ ॥
किञ्च सोपि क्रियामात्रात्कुलाचारक्रमागताम् ।
स्वर्गादिसम्पदोभुक्त्वाक्रमाप्नोति शिवाक्षयम् ॥ १३२ ॥
सम्यक्त्वेन विहीनोऽपि नियमस्याप्ययोज्झितः ।
योऽपि कुलक्रियासक्तः स्वर्गादिपदभाग्भवेत् ॥ १३३ ॥
अथ क्रियां च तामेव कुलाचारोचितां पराम् ।
व्रतरूपेण गृह्णाति तदा दर्शनिको मत ॥ १३४ ॥
दर्शनप्रतिमा चास्य गुणस्थान च पञ्चमम् ।
संयतासंयताख्यश्च संयमोस्य जिनागमात् ॥ १३५ ॥
दृगाद्येकादशान्तानां प्रतिमानामनादितः ।
पञ्चमेन गुणेनामा व्याप्तिः साधीयसी स्मृते ॥ १३६ ॥
ननु या प्रतिमा प्रोक्ता दर्शनाख्या तदादिमा ।
जैनानां सास्ति सर्वेषामर्थात्प्राग्व्रतिनामपि ॥ १३७ ॥
नैवं सति तथा तुर्य-गुणस्थानस्य शून्यता ।
नूनं दृक्प्रतिमा यस्माद्गुणे पञ्चमके मता ॥ १३८ ॥
नोह्यं दृक्प्रतिमामात्रमस्तु तुर्यगुणे नृणाम् ।
व्रतादिप्रतिमाःशेषाः सन्तु पञ्चमके गुणे ॥ १३९ ॥
नैवं सति नियमाद्दाक्प्रतित्वं कुतोऽर्थतः ।
व्रतादिप्रतिमासूत्रेप्यमित्यानुपपत्तितः ॥ १४० ॥
ततो विविक्तं साधु सामान्यात्सा कुलक्रिया ।
नियमेन सनाथा चेद्दर्शनप्रतिमात्मिका ॥ १४१ ॥

---

१ अयमत्रमहस. ।

किञ्च मूलगुणादीनामादानेऽपि वर्जने ।
समस्ते प्रतिमास्त्याद्या व्यस्तेसति कुलक्रिया ॥ १४२ ॥
यथा चैकस्य कस्यापि व्यसनस्योज्झने कृते ।
दर्शनप्रतिमा न स्यात्स्याद्वा साध्वी कुलक्रिया ॥ १४३ ॥
यदा मूलगुणादानं द्यूतादिव्यसनोज्झनम् ।
दर्शनं सर्वतश्चैतत्त्रयं स्यात्प्रतिमादिमा ॥ १४४ ॥
दर्शनप्रतिमायास्तु क्रियाया व्रतरूपतः ।
तस्याः कुलक्रियायाश्चाविशेषोऽप्यस्ति लेशतः ॥ १४५ ॥
प्रमादोद्रेकतोवश्यं सदोषाःस्यात्कुलक्रियाः ।
निर्दोषाः स्वल्पदोषा वा दर्शनप्रतिमाक्रियाः ॥ १४६ ॥
यथा कश्चित्कुलाचारी द्यूतादिव्यसनोज्झनम् ।
कुर्याद्वा न यथेच्छायां कुर्यादेव हगात्मकः ॥ १४७ ॥
अथ च पाक्षिको यद्वा दर्शनप्रतिमान्वितः ।
प्रकृतं न परं कुर्यात्कुर्याद्वा वक्ष्यमाणकम् ॥ १४८ ॥
प्रामाणिकः क्रमोप्येष ज्ञातव्यो व्रतसंचये ।
भावना चागृहीतस्य व्रतस्यापि न दूषिका ॥ १४९ ॥
भावयेद्भावनां नूनमुपर्युपरि सर्वतः ।
यावन्निर्वाणसंप्राप्तौ पुंसोवस्थान्तरं भवेत् ॥ १५० ॥

उक्तं च ।

जं सक्कइ तं कीरइ जं च ण सक्कइ तहेव सद्दहणं ।
सद्दहणमाणो जीवो पावइ अजरामरं ठाणं ॥ १ ॥

यथात्र पाक्षिकः कश्चिद्दर्शनप्रतिमोऽथवा ।
उपर्युपरि शुद्ध्यर्थं यद्यत्कुर्यात्तदुच्यते ॥ १५१ ॥
सर्वतोविरतिस्तेषां हिंसादीनां व्रतं महत् ।
नैतत्सागारिभिः कर्तुं शक्यते लिङ्गमर्हताम् ॥ १५२ ॥

१ व्यसनानाम् ।

मूलोत्तरगुणाः सन्ति देशतो वेश्मवर्तिनाम् ।
तथानगारिणां न स्युः सर्वतः स्युः परेऽथ ते ॥ १५३ ॥
तत्र मूलगुणाश्चाष्टौ गृहिणां व्रतधारिणाम् ।
क्वचिदव्रतिनां यस्मात्सर्वसाधारणा इमे ॥ १५४ ॥
निसर्गाद्वा कुलाम्नायादायातास्ते गुणाः स्फुटम् ।
तद्विनापि व्रतं यावत्सम्यक्त्वं च गुणोऽङ्गिनाम् ॥ १५५ ॥
एतावता विनाप्येष श्रावको नास्ति नामतः ।
किं पुनः पाक्षिको गूढो नैष्ठिकः साधकोऽथ वा ॥ १५६ ॥
मद्यमांसमधुत्यागी यथोदुम्बरपञ्चकम् ।
नामतः श्रावकः ख्यातो नान्यथापि तथा गृही ॥ १५७ ॥
यथाशक्ति विधातव्यं गृहस्थैर्व्यसनोज्झनम् ।
अवश्यं तद्व्रतस्थैस्तैरिच्छद्भिः श्रेयसीं क्रियाम् ॥ १५८ ॥
त्यजेद्दोषांस्तु तत्रोक्तान् सूत्रेऽतीचारसंज्ञकान् ।
अन्यथा मद्यमांसादीन् श्रावकः कः समाचरेत् ॥ १५९ ॥
दानं चतुर्विधं देयं पात्रबुद्ध्याथ श्रद्धया ।
जघन्यमध्यमोत्कृष्टपात्रेभ्यः श्रावकोत्तमैः ॥ १६० ॥
कुपात्रायाप्यपात्राय दानं देयं यथोचितम् ।
पात्रबुद्ध्या निषिद्धं स्यान्निषिद्धं न कृपाधिया ॥ १६१ ॥
शेषेभ्यः क्षुत्पिपासादिपीडितेभ्योऽशुभोदयात् ।
दीनेभ्योऽभयदानादि दातव्यं करुणार्णवैः ॥ १६२ ॥
पूजामप्यर्हतां कुर्याद्यद्वा तत्प्रतिमासु च ।
स्वरव्यञ्जनानि संस्थाप्य सिद्धानप्यर्चयेत्सुधीः ॥ १६२ ॥
सूर्युपाध्यायसाधूनां पुरस्तात्पादयोः स्तुतिम् ।
प्राग्विधायाष्टधा पूजां विदध्यात्स त्रिशुद्धितः ॥ १६४ ॥

१ तथानगारिणां ते + स्यु. सर्वतः स्यु. ● चोक्ता ते । + मूलगुणा । ● उत्तरगुणाः । इत्यपि वा पाठः ।

४ ला. सं.

सन्मानादि यथाशक्ति कर्तव्यं च सधर्मिणाम् ।
व्रतिनां चेतरेषां वा विशेषाद् ब्रह्मचारिणाम् ॥ १६५ ॥
नारीभ्योऽपि व्रताढ्याभ्यो न निषिद्धं जिनागमे ।
देयं सन्मानदानादि लोकानामविरोधतः ॥ १६६ ॥
जिनचैत्यगृहादीनां निर्माणे सावधानता ।
यथासम्पद्विधेयास्ति दूष्या नावद्यलेशतः ॥ १६७ ॥
सिद्धानामर्हतां चापि यन्त्राणि प्रतिमाः शुभाः ।
चैत्यालयेषु संस्थाप्य द्राक् प्रतिष्ठापयेत्सुधीः ॥ १६८ ॥
अपि तीर्थादियात्रासु विदध्यात्सोद्यतं मनः ।
श्रावकः स च तत्रापि संयमं न विराधयेत् ॥ १६९ ॥
नित्ये नैमित्तिके चैत्यजिनबिम्बमहोत्सवे ।
शैथिल्यं नैव कर्तव्यं तत्त्वज्ञैस्तद्विशेषतः ॥ १७० ॥
संयमो द्विविधश्चैव विधेयो गृहमेधिभिः ।
विनापि प्रतिमारूपं व्रतं यद्वा स्वशक्तितः ॥ १७१ ॥
तपो द्वादशधा द्वेधा बाह्याभ्यन्तरभेदतः ।
कृत्स्नमन्यतमं वा तत्कार्यं चानतिवीर्यसात् ॥ १७२ ॥
उक्तं दिग्मात्रमत्रापि प्रसङ्गाद्वा गृहिव्रतम् ।
वक्ष्ये चोपासकाध्याये सावकाशं सविस्तरम् ॥ १७३ ॥

इति श्री स्याद्वादानवद्यगद्यपद्यविद्याविशारदविद्वन्मणिराजमल्ल-
विरचितायां श्रावकाचारापरनामलाटीसंहितायां
साधुश्री दूदात्मजफामनमनःसरोजारविन्द-
विकाशैकमार्तण्डमण्डलायमानायां दर्शन-
प्रतिमाविधानवर्णनो नाम तृतीयः सर्गः ।

अथ चतुर्थः सर्गः ।

इदमिदं तव भो वनिजांपते
भवतु भाविकभावसुदर्शनम् ।
विदितकामननाममहामते
रसिकधर्मकथासु यथार्थतः ॥ १ ॥

इत्याशीर्वादः ।

ननु सुदर्शनसंदेशलक्षणं स्यादशेषतः ।
किमथास्त्यपरं किञ्चल्लक्षणं तद्वदाद्य नः ॥ १ ॥
सम्यग्दर्शनमष्टाङ्गमस्ति सिद्धं जगत्त्रये ।
लक्षणं च गुणश्चाङ्गं शब्दाश्चैकार्थवाचकाः ॥ २ ॥
निःशङ्कितं तथा नाम्ना निःकांक्षितमतः परम् ।
विचिकित्सावर्जं चापि यथादृष्टेरमूढता ॥ ३ ॥
उपबृंहणनामाथ सुस्थितीकरणं तथा ।
वात्सल्यं च यथाम्नायाद्गुणोऽप्यस्ति प्रभावना ॥ ४ ॥
शङ्का भीः साध्वसं भीतिर्भयमेकाभिधा अमी ।
तस्या निष्क्रान्तितो जातो भावो निःशङ्कितोऽर्थतः ॥ ५ ॥
अर्थवशादत्र सूत्रार्थे शङ्का न स्यान्मनीषिणाम् ।
सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः सन्ति चास्तिक्यगोचराः ॥ ६ ॥
तत्र धर्मादयः सूक्ष्माः सूक्ष्माः कालाणवोऽणवः ।
अस्ति सूक्ष्मत्वमेतेषां लिङ्गस्याक्षैरदर्शनात् ॥ ७ ॥
अन्तरिता यथा द्वीपसरिन्नाथनगाधिपा ।
दूरार्था भाविनोऽतीता रामरावणचक्रिणः ॥ ८ ॥
न स्यान्मिथ्यादृशो ज्ञानमेतेषां काप्यसंशयम् ।
संशयादथ हेतोर्वै दृग्मोहस्योदयात्सतः ॥ ९ ॥

---

१ इन्द्रियैः । २ अंतरिताः कालान्तरिताः, दूरार्थाः देशविप्रकृष्टाः इति पश्चान्नेयम् ।

नचाशाद्‌कथं परोक्षास्ते संदृष्टेर्गोचराः कुतः ।
तैः सह सन्निकर्षस्य साक्षिकस्याप्यसम्भवात् ॥ १० ॥
अस्ति तत्रापि सम्यक्त्वमाहात्म्यं महतां महत् ।
यदृस्य जगतो ज्ञानमस्त्यास्तिक्यपुरस्सरम् ॥ ११ ॥
नासम्भवमिदं यस्मात्स्वभावोऽतर्कगोचरः ।
अतिशयोऽतिवागास्ति योगिनां योगिशक्तिवत् ॥ १२ ॥
अस्ति चात्मपरिच्छेदि ज्ञानं सम्यग्दृगात्मनः ।
स्वसंवेदनप्रत्यक्षं शुद्धं सिद्धास्पदोपमम् ॥ १३ ॥
यत्रानुभूयमानोऽपि सर्वैराबालमात्मनि ।
मिथ्याकर्मविपाकाद्वै नानुभूतिः शरीरिणाम् ॥ १४ ॥
सम्यग्दृष्टेः कुदृष्टेश्च स्वादुभेदोऽस्ति वस्तुनि ।
न तत्र वास्तवो भेदो वस्तुसीम्नोऽनतिक्रमात् ॥ १५ ॥
अत्र तात्पर्यमेवैतत्तत्त्वैकत्वेऽपि यो भ्रमः ।
शङ्कायाः सोऽत्यपराधो साऽस्ति मिथ्योपजीविनी ॥ १६ ॥
ननु शङ्काकृतो दोषो यो मिथ्यानुभवो नृणाम् ।
सा शङ्कापि कुतो न्यायादस्ति मिथ्योपजीविनी ॥ १७ ॥
अत्रोत्तरं कुदृष्टिर्यः सप्तभिर्भयैर्युतः ।
नापि स्पृष्टः सुदृष्टिर्यः सप्तभिः स भयैर्मनाक् ॥ १८ ॥
परत्रात्मानुभूतेर्वै विना भीतिः कुतस्तनी ।
भीतिः पर्यायमूढानां नात्मतत्त्वैकचेतसाम् ॥ १९ ॥
ततो भीत्यानुमेयास्ति मिथ्या भावो जिनागमात् ।
सा च भीतिरवश्यं स्याद्धेतोः स्वानुभवक्षतेः ॥ २० ॥
अस्ति सिद्धं परायत्तो भीतः स्वानुभवच्युतः ।
स्वस्थस्य स्वाधिकारित्वान्नूनं भीतेरसम्भवात् ॥ २१ ॥
ननु सन्ति चतस्रोऽपि संज्ञास्तस्यापि कस्यचित् ।
अर्वाक् तत्परिच्छेदस्थानादस्ति तदसम्भवात् ॥ २२ ॥

१ केऽप्यत्र ।

तत्कथं नाम निर्भीकः सर्वतो दृष्टिवानपि ।
अप्यनिष्टार्थसंयोगादस्त्यध्यक्षं प्रमत्तवान् ॥ २३ ॥
सत्यं भीतोऽपि निर्भीकस्तत्स्वामित्वाद्यभावतः ।
रूपिद्रव्यं यथा चक्षुः पश्यदपि न पश्यति ॥ २४ ॥
सन्ति संसारिजीवानां कर्मांशाश्चोदयागताः ।
मुह्यन् रज्यन् द्विषंस्तत्र तत्फलेनोपयुज्यते ॥ २५ ॥
एतेन हेतुना ज्ञानी निःशङ्को न्यायदर्शनात् ।
देशतोऽप्यत्र मूर्च्छायाः शङ्काहेतोरसम्भवात् ॥ २६ ॥
स्वात्मसंचेतनं तस्य कीदृगस्तीति चिन्त्यते ।
येन कर्मापि कुर्वाणो कर्मणा नोपयुज्यते ॥ २७ ॥
तत्र भीतिरिहामुत्रलोके वा वेदनाभयं ।
चतुर्थी भीतिरत्राणं स्यादगुप्तिस्तु पञ्चमी ॥ २८ ॥
भीतिः स्याद्वा तथा मृत्युर्भीतिराकस्मिकी ततः ।
क्रमादुद्देशिताश्चेति सप्तैता भीतयः स्मृताः ॥ २९ ॥
तत्रेह लोकतो भीतिः क्रन्दितं चात्रजन्मनि ।
इष्टार्थस्य व्ययो माभून्मा मेऽनिष्टार्थसङ्गमः ॥ ३० ॥
स्थास्यतीदं धनं नो वा दैवान्माभूद्दरिद्रता ।
इत्याद्याधिश्चिता दग्धुं ज्वलितेवाऽदृगात्मनः ॥ ३१ ॥
अर्थादज्ञानिनो भीतिर्भीतिर्न ज्ञानिनः क्वचित् ।
यतोऽस्ति हेतुतः शेषाद्विशेषश्चानयोर्महान् ॥ ३२ ॥
अज्ञानी कर्म नोकर्म भावकर्मात्मकं च यत् ।
मनुतेऽहं सर्वमेवैतन्मोहादद्वैतवादवत् ॥ ३३ ॥
विश्वाद्भिन्नोऽपि विश्वं स्वं कुर्वन्नात्मानमात्महा ।
भूत्वा विश्वमयो लोके भयं नोज्झति जातुचित् ॥ ३४ ॥
तात्पर्यं सर्वतोऽनित्ये कर्मणां पाकसम्भवात् ।
नित्यं बुध्वा शरीरादौ भ्रान्तो भीतिमुपैति सः ॥ ३५ ॥

सम्यग्दृष्टिः सदैकत्वं स्वं समासादयन्निव ।
यावत्कर्मातिरिक्तत्वाच्छुद्धमभ्येति चिन्मयम् ॥ ३६ ॥
शरीरं सुखदुःखादि पुत्रपौत्रादिकं तथा ।
अनित्यं कर्मकार्यत्वादस्वरूपमवैति यः ॥ ३७ ॥
लोकोयं मे हि चिल्लोको नूनं नित्योस्ति सोर्थतः ।
नापरो लौकिको लोकस्ततो भीतिः कुतोस्ति मे ॥ ३८ ॥
आत्मसंचेतनादेवं ज्ञानी ज्ञानैकतानतः ।
इह लोकभयान्मुक्तो मुक्तस्तत्कर्मबन्धनात् ॥ ३९ ॥
परलोकः परत्रात्मा भाविजन्मान्तरांशभाक् ।
ततः कम्प इव त्रासो भीतिः परलोकतोस्ति सा ॥ ४० ॥
भद्रं चेज्जन्म स्वर्लोके माभून्मे जन्म दुर्गतौ ।
इत्याद्याकुलितं चेतः साध्वसं पारलौकिकम् ॥ ४१ ॥
मिथ्यादृष्टेस्तदेवास्ति मिथ्याभावैककारणात् ।
तद्विपक्षस्य सद्दृष्टेर्नास्ति तत्तत्र व्यत्ययात् ॥ ४२ ॥
बहिर्दृष्टिरनात्मज्ञो मिथ्यामात्रैकभूमिकः ।
स्वं समासादयत्यज्ञः कर्म कर्मफलात्मकम् ॥ ४३ ॥
ततो नित्यं भयाक्रान्तो वर्तते भ्रान्तिमानिव ।
मनुते मृगतृष्णायामम्भोभारं जनः कुधीः ॥ ४४ ॥
अन्तरात्मा तु निर्भीकः पदं निर्भयमाश्रितः ।
भीतिहेतोरिहावश्यं मिथ्याभ्रान्तेरसम्भवात् ॥ ४५ ॥
मिथ्याभ्रान्तिर्यदन्यत्र दर्शनं चान्यवस्तुनः ।
यथा रज्जौ तमोहेतोः सर्पाध्यासात्प्रद्रवत्यधीः ॥ ४६ ॥
स्वयंवेदनप्रत्यक्षं ज्योतिर्यो वेत्त्यनन्यसात् ।
स बिभेति कुतो न्यायादन्यथाभवनादिति ॥ ४७ ॥
वेदनागन्तुका बाधा मलानां कोपतस्तनौ ।
भीतिः प्रागेव कम्पोऽस्या मोहाद्वा परिदेवनम् ॥ ४८ ॥

उल्लाघोऽहं भविष्यामि माभून्मे वेदना क्वचित् ।
मूर्च्छैव वेदना भीतिश्चिन्तनं वा मुहुर्मुहुः ॥ ४९ ॥
अस्ति नूनं कुदृष्टेः सा दृष्टिदोषैकहेतुतः ।
नीरोगस्यात्मनो ज्ञानान्न स्यात्सा ज्ञानिनां क्वचित् ॥ ५० ॥
पुद्गलाद्भिन्नचिद्धाम्नो न मे व्याधिः कुतो भयम् ।
व्याधिः सर्वः शरीरस्य नामूर्तस्येति चिन्तनात् ॥ ५१ ॥
स्पर्शनादीन्द्रियार्थेषु प्रत्युत्पन्नेषु भाविषु ।
नादरो यस्य सोऽस्त्यर्थान्निर्भीको वेदनाभयात् ॥ ५२ ॥
व्याधिस्थानेषु तेषूच्चैर्नासिद्धो नादरो मनाक् ।
बाधाहेतोः स्वतस्तेषामामयस्याविशेषतः ॥ ५३ ॥
अत्राणं क्षणिकैकान्ते पक्षे चित्तक्षणादिवत् ।
नाशात्प्रागंशनाशस्य त्रातुमक्षमतात्मनः ॥ ५४ ॥
भीतिः प्रागंशनाशात्स्यादंशिनाशभ्रमोऽन्वयात् ।
मिथ्यामात्रैकहेतुत्वान्नूनं मिथ्यादृशोऽस्ति सा ॥ ५५ ॥
शरणं पर्ययस्यास्तंगतस्यापि सदन्वयम् ।
तमनिच्छन्निवाज्ञः स त्रस्तोऽस्त्यत्राणसाध्वसात् ॥ ५६ ॥
सद्दृष्टिस्तु चिदंशैः स्वैः क्षणे नष्टे चिदात्मनि ।
पश्यन्नष्टमिवात्मानं निर्भयोऽत्राणभीतितः ॥ ५७ ॥
द्रव्यतः क्षेत्रतश्चापि कालादपि च भावतः ।
नात्राणमंशतोऽप्यत्र कुतस्तद्धीमहात्मनः ॥ ५८ ॥
दृङ्मोहस्योदयाद्बुद्धिर्यस्यैकान्तादिवादिनः ।
तस्यैवागुप्तिभीतिः स्यान्नूनं नान्यस्य जातुचित् ॥ ५९ ॥
असज्जन्म सतो नाशं मन्यमानस्य देहिनः ।
कोऽवकाशस्ततो मुक्तिमिच्छतोऽगुप्तिसाध्वसात् ॥ ६० ॥
सम्यग्दृष्टिस्तु स्वं रूपं गुप्तं वै वस्तुनो विदन् ।
निर्भयोऽगुप्तितो भीतेर्भीतिहेतोरसम्भवात् ॥ ६१ ॥

मृत्युः प्राणात्ययः प्राणाः कायवागिन्द्रियं मनः ।
निश्वासोच्छ्वासमायुश्च दशैते वाक्यविस्तरात् ॥ ६२ ॥
तद्भीतिर्जीवितं भूयान्माभून्मे मरणं क्वचित् ।
कदा लेभे न वा दैवादित्याधिः स्वे तनुव्यये ॥ ६३ ॥
नूनं तद्भीः कुदृष्टीनां नित्यं तत्त्वमनिच्छताम् ।
अन्तस्तत्त्वैकवृत्तानां तद्भीतिर्ज्ञानिनां कुतः ॥ ६४ ॥
जीवस्य चेतना प्राणा नूनं स्वात्मोपजीविनी ।
नार्थान्मृत्युरतस्तद्भीः कुतः स्यादिति पश्यतः ॥ ६५ ॥
अकस्माज्जातमित्युच्चैराकस्मिकभयं स्मृतम् ।
तद्यथा विद्युदादीनां पातात्पातोऽसुधारिणाम् ६६ ॥
भीतिर्भूयाद्यथा सौस्थ्यं माभूद्दौस्थ्यं कदापि मे ।
इत्येवं मानसी चिन्ता पर्याकुलितचेतसाम् ॥ ६७ ॥
अर्थादाकस्मिकभ्रान्तिरस्ति मिथ्यात्वशालिनः ।
कुतो मोक्षोऽस्य तद्भीतिर्निर्भीकैकपदच्युते ॥ ६८ ॥
निर्भीकैकपदो जीवः स्यादनन्तोऽप्यनादिसन् ।
नास्त्याकस्मिकं तत्र कुतस्तद्भीस्तमिच्छतः ॥ ६९ ॥
कांक्षा भोगाभिलाषः स्यात्कृते मुख्यक्रियासु वा ।
कर्मणि तत्फले स्यात्सात्म्यमन्यदृष्टिप्रशंसनम् ॥ ७० ॥
हृषीकारुचितेषूच्चैरुद्वेगो विषयेषु च ।
स स्याद्भोगाभिलाषस्य लिङ्गं स्वेष्टार्थरञ्जनात् ॥ ७१ ॥
तद्यथा न रतिः पक्षे विपक्षे चारतिं विना ।
नारतिर्वा स्वपक्षेऽपि तद्विपक्षे रतिं विना ॥ ७२ ॥
शीतद्वेषी यथा कश्चिदुष्णस्पर्शं समीहते ।
नेच्छेदनुष्णसंस्पर्शमुष्णस्पर्शाभिलाषुकः ॥ ७३ ॥
यस्यास्ति कांक्षितो भावो नूनं मिथ्यादृगस्ति सः ।
यस्य नास्ति स सद्दृष्टिर्युक्तिस्वानुभवागमात् ॥ ७४ ॥

आस्तामिष्टार्थसंयोगोऽमुत्रभोगाभिलाषतः ।
स्वार्थमार्थैकसंसिद्धिर्न स्यान्नामैहिकापि सा ॥ ७५ ॥
निस्सारं प्रस्फुरत्येष मिथ्याकर्मैकपाकतः ।
जन्तोरुन्मत्तवच्चापि वार्द्धेर्वातोत्तरङ्गवत् ॥ ७६ ॥
ननु कार्यमनुद्दिश्य न मन्दोपि प्रवर्तते ।
भोगाकांक्षां विना ज्ञानी तत्कथं व्रतमाचरेत् ॥ ७७ ॥
नासिद्धं बन्धमात्रत्वं क्रियायाः फलमद्वयम् ।
शुभमात्रं शुभायाः स्यादशुभायाश्चाशुभावहम् ॥ ७८ ॥
नचाशङ्क्यं क्रियाप्येषा स्यादबन्धफला क्वचित् ।
दर्शनातिशयाद्धेतोः सरागेपि विरागवत् ॥ ७९ ॥
सरागे वीतरागे वा नूनमौदयिकी क्रिया ।
अस्ति बन्धफलावश्यं मोहस्यान्यतमोदयात् ॥ ८० ॥
नच वाच्यं स्यात्सद्दृष्टिः कश्चित्प्रज्ञापराधतः ।
अपि बन्धफलां कुर्यात्तामबन्धफलां विदन् ॥ ८१ ॥
यतः प्रज्ञाविनाभूतमस्ति सम्यग्विशेषणम् ।
तस्याश्चाभावतो नूनं कुतस्त्या दिव्यता दृशः ॥ ८२ ॥
नैवं यतः सुसिद्धं प्रागस्ति चानिच्छतः क्रिया ।
शुभायाश्चाशुभायाश्च को विशेषो विशेषभाक् ॥ ८३ ॥
नन्वनिष्टार्थसंयोगरूपा सानिच्छतः क्रिया ।
विशिष्टेष्टार्थसंयोगरूपा सानिच्छतः कथम् ॥ ८४ ॥
सत्क्रिया व्रतरूपा स्यादर्थान्नानिच्छतः स्फुटम् ।
तस्याः स्वतन्त्रसिद्धत्वात्सिद्धं कर्तृत्वमर्थसात् ॥ ८५ ॥
नैवं यतोऽस्त्यनिष्टार्थः सर्वः कर्मोदयात्मकः ।
तस्मान्नाकांक्षते ज्ञानी यावत्कर्म च तत्फलम् ॥ ८६ ॥
यत्पुनः कश्चिदिष्टार्थोऽनिष्टार्थः कश्चिदर्थसात् ।
तत्सर्वं दृष्टिदोषत्वात्पीतशंखावलोकवत् ॥ ८७ ॥

दृङ्मोहस्यात्यये दृष्टिः साक्षाद्भूतार्थदर्शिनी ।
तस्यानिष्टेऽस्त्यनिष्टार्थबुद्धिः कर्मफलात्मके ॥ ८८ ॥
नचासिद्धमनिष्टत्वं कर्मणस्तत्फलस्य च ।
सर्वतो दुःखहेतुत्वाद् युक्तिस्वानुभवागमात् ॥ ८९ ॥
अनिष्टार्थफलत्वात्स्यादनिष्टार्था व्रतक्रिया ।
दुष्टकार्यानुरूपस्य हेतोर्दुष्टोपदेशवत् ॥ ९० ॥
अथासिद्धं स्वतन्त्रत्वं क्रियायाः कर्मणः फलात् ।
ऋते कर्मोदयाद्धेतोस्तस्याश्चासम्भवो यतः ॥ ९१ ॥
यावदक्षीणमोहस्य क्षीणमोहस्य चात्मनः ।
यावत्यस्ति क्रिया नाम तावत्यौदयिकी स्मृता ॥ ९२ ॥
पौरुषं न यथाकामं पुंसः कर्मोदितं प्रति ।
न परं पौरुषापेक्षो दैवापेक्षो हि पौरुषः ॥ ९३ ॥
सिद्धो निःकाङ्क्षितो ज्ञानी कुर्वाणोऽप्युदितां क्रियाम् ॥
निष्कामतः कृतं कर्म न रागाय विरागिणाम् ॥ ९४ ॥
नाशङ्क्यं चास्ति निःकाङ्क्षः सामान्योऽपि जनः क्वचित् ।
हीनः कुतश्चिदन्यत्र दर्शनातिशयादपि ॥ ९५ ॥
यतो निःकाङ्क्षिता नास्ति न्यायात्सद्दर्शनं विना ।
नानिच्छास्त्यक्षजस्यैव सौख्ये तदत्यक्षमनिच्छतः ॥ ९६ ॥
तदत्यक्षसुखं मोहान्मिथ्यादृष्टिः स नेच्छति ।
दृङ्मोहस्य तथा पाकशक्तेः सद्भावतोऽनिशम् ॥ ९७ ॥
स्वस्ति निःकाङ्क्षितो भावो गुणः सद्दर्शनस्य वै ।
अस्तु का नः क्षतिः प्राक् चेत्तत्रैवान्तर्गता मता ॥ ९८ ॥
अथ निर्विचिकित्साख्यो गुणः संलक्ष्यते स च ।
सद्दर्शनगुणस्योच्चैर्गुणो युक्तिवशादपि ॥ ९९ ॥
आत्मन्यात्मगुणोत्कर्षबुद्ध्या स्वात्मप्रशंसनात् ।
परत्राप्यपकर्षेषु बुद्धिर्विचिकित्सा स्मृता ॥ १०० ॥

निष्क्रान्तो विचिकित्सायाः प्रोक्तो निर्विचिकित्सकः ।
गुणः सद्दर्शनस्योच्चैर्वक्ष्ये तल्लक्षणं यथा ॥ १०१ ॥
दुर्दैवाद्दुःखिते पुंसि तीव्रासाताघृणास्पदे ।
यन्नासूयापरं चेतः स्मृतो निर्विचिकित्सकः ॥ १०२ ॥
नैतत्तन्मनस्यज्ञानमस्म्यहं सम्पदां पदम् ।
नासावस्मत्समो दीनो वराको विपदां पदम् ॥ १०३ ॥
प्रत्युत ज्ञानमेवैतत्तत्र कर्मविपाकजाः ।
प्राणिनः सदृशाः सर्वे त्रसस्थावरयोनयः ॥ १०४ ॥
यथा द्वावर्भकौ जातौ शूद्रिकायास्तथोदरात् ।
शूद्रावभ्रान्तितस्तौ द्वौ कृतं भेदभ्रमात्मना ॥ १०५ ॥
जले जम्बालवज्जीवे यावत्कर्माशुचि स्फुटम् ।
अहं ते चाविशेषाद्वा नूनं कर्ममलीमसाः ॥ १०६ ॥
अस्ति सद्दर्शनस्यासौ गुणो निर्विचिकित्सकः ।
यतोऽवश्यं स तत्रास्ति तस्मादन्यत्र न क्वचित् ॥ १०७ ॥
कर्मपर्यायमात्रेषु रागिणः स कुतो गुणः ।
सद्विशेषेऽपि संमोहाद् द्वयोरैक्योपलब्धितः ॥ १०८ ॥
इत्युक्तो युक्तिपूर्वोऽसौ गुणः सद्दर्शनस्य यः ।
नाविवक्षोऽपि दोषाय विवक्षो न गुणाप्तये ॥ १०९ ॥
अस्ति चामूढदृष्टिः सा सम्यग्दर्शनशालिनी ।
ययालङ्कृतमात्रं सद्भाति सद्दर्शनं नरि[1] ॥ ११० ॥
अतत्त्वे तत्त्वश्रद्धानं मूढदृष्टिः स्वलक्षणात् ।
नास्ति सा यस्य जीवस्य विख्यातः सोऽस्त्यमूढदृक् ॥ १११ ॥
अस्त्यसद्धेतुदृष्टान्तैर्मिथ्यार्थः साधितोऽपरैः ।
नाप्यलं तत्र मोहाय दृग्मोहस्योदयक्षतेः ॥ ११२ ॥
सूक्ष्मान्तरितदूरार्थे दर्शितेऽपि कुदृष्टिभिः ।
नाल्पश्रुतः समुह्येत किं पुनश्चेद्बहुश्रुतः ॥ ११३ ॥

---

१ मनुष्ये ।

अर्थाभामेपि तत्रोच्चैः सम्यग्दृष्टेर्न मूढता ।
स्थूलानन्तरितोपात्तमिथ्यार्थेऽस्य कुतो भ्रमः ॥ ११४ ॥
तद्यथा लौकिकी रूढिरस्ति नाना विकल्पसात् ।
निःसारैराश्रिता पुंभिरथानिष्टफलप्रदा ॥ ११५ ॥
अफला कुफला हेतुशून्या योगापहारिणी ।
दुस्त्याज्या लौकिकैः रूढिः कैश्चिद्दुष्कर्मपाकतः ॥ ११६ ॥
अदेवे देवबुद्धिः स्यादधर्मे धर्मधीरिह ।
अगुरौ गुरुबुद्धिर्या ख्याता देवादिमूढता ॥ ११७ ॥
कुदेवाराधनां कुर्यादैहिकश्रेयसे कुधीः ।
मृषालोकोपचारत्वादश्रेया लोकमूढता ॥ ११८ ॥
अस्ति श्रद्धानमेकेषां लोकरूढिवशादिह ।
धनधान्यप्रदा नूनं सम्यगाराधिताम्बिका ॥ ११९ ॥
अपरेपि यथाकामं देवानिच्छन्ति दुर्धियः ।
सदोषानपि निर्दोषानिव प्रज्ञापराधतः ॥ १२० ॥
नोक्तस्तेषां समुद्देश[1] प्रसङ्गादपि सङ्गतः ।
लब्धवर्णो न कुर्याद्वै निस्सारं ग्रंथविस्तरम् ॥ १२१ ॥
अधर्मस्तु कुदेवानां यावानाराधनोद्यमः ।
तैः प्रणीतेषु धर्मेषु चेष्टा वाक्कायचेतसाम् ॥ १२२ ॥
कुगुरुः कुत्सिताचार[1] सशल्यः सपरिग्रहः ।
सम्यक्त्वेन व्रतेनापि युक्तः स्यात्सद्गुरुर्यतः ॥ १२३ ॥
अत्रोद्देशोपि न श्रेयान्सर्वतोऽतीवविस्तरात् ।
आदेयो विधिरत्रोक्तो नादेयोऽनुक्तएव सः ॥ १२४ ॥
दोषो रागादिचिद्भावः स्यादावरणं च कर्म तत् ।
तयोरभावोस्ति निःशेषो यत्रासौ देव उच्यते ॥ १२५ ॥
अस्त्यत्र केवलं ज्ञानं क्षायिकं दर्शनं सुखम् ।
वीर्यं चेति सुविख्यातं स्यादनन्तचतुष्टयम् ॥ १२६ ॥

१ पण्डितः ।

जन्मावृतिहेतुं कर्म घातिविध्वंसि कर्म तत् ।
अस्ति तत्रान्यबन्धं वै पुण्यं पुण्यत्वमत्र चेत् ॥ १५३ ॥
अन्ये किन्तु विशेषोऽस्ति मोहकर्मोदयस्य च ।
मोहकर्माविनाभूतं बन्धसत्त्वोदयक्षयम् ॥ १५४ ॥
तद्यथा बध्यमानेऽस्मिन् तद्बन्धो मोहबन्धसात् ।
तत्सत्त्वे सत्त्वमेतस्य पाके पाकः क्षये क्षय ॥ १५५ ॥
नोह्यं दृग्मोहस्यावस्थायामवागेवास्तु तत्क्षय ।
केवलान्मोहक्षयस्यावात्मनः सर्वतः क्षय ॥ १५६ ॥
नासिद्धं निर्जरा तत्त्व सद्दृष्टेः कृत्स्नकर्मणाम् ।
आत्मोहोदयाभावात्तत्रासंख्यगुणा क्रमात् ॥ १५७ ॥
तत्र कर्मत्रयं प्रोक्तमस्ति यद्यपि सांप्रतम् ।
रागद्वेषविमोहानामभावाद्दुर्लभा मता ॥ १५८ ॥
अथास्त्येव ॥ सामान्यात्स्याद्विशेषात्त्रिधामत ।
एकोऽप्यग्निर्यथा नाम्ना पाचको दाहकस्त्रिधोच्यते ॥ १५९ ॥
आचार्यः स्यादुपाध्यायः साधुश्चेति त्रिधा यतिः ।
स्युर्विशिष्टपदारूढास्त्रयोऽपि मुनिकुञ्जराः ॥ १६० ॥
एको हेतुः क्रियाप्येका वेषश्चैको बहिः समः ।
तपो द्वादशधा चैकं व्रतं चैकं च पञ्चधा ॥ १६१ ॥
त्रयोदशविधं चैकं चारित्रं समतैकधा ।
मूलोत्तरगुणाश्चैकं संयमोऽप्येकधा मत ॥ १६२ ॥
परीषहोपसर्गाणां सहनं च समं स्मृतम् ।
आहारादिविधिश्चैकश्चर्यास्थानासनादय ॥ १६३ ॥
मार्गो मोक्षस्य सद्दृष्टि ज्ञानं चारित्रमात्मनः ।
रत्नत्रयं समं तेषामपि चान्तर्बहिःस्थितम् ॥ ६४ ॥

---

१ मो विचार्यतेऽयम् । २ " स " पुस्तके " क्षये " इति पाठः । ३ " गुण
इति पञ्चाध्यायी पाठः । ४ विहरः ।

ध्याता ध्यानं च ध्येयश्च ज्ञाता ज्ञानं च ज्ञेयसात् ।
चतुर्विधाराधनापि तुल्या क्रोधादिजिष्णुता ॥ १६५ ॥
किमत्र बहुनोक्तेन तद्विशेषोऽवशिष्यते ।
विशेषाच्छेषनिःशेषो न्यायादस्त्यविशेषभाक् ॥ १६६ ॥
आचार्योऽनादितो रूढेर्योगादपि निरुच्यते ।
पञ्चाचारं परेभ्यः स आचारयति संयमी ॥ १६७ ॥
अपि छिन्ने व्रते साधोः पुनः सन्धानमिच्छतः ।
तत्समादेशदानेन प्रायश्चित्तं प्रयच्छति ॥ १६८ ॥
आदेशस्योपदेशेभ्यः स्याद्विशेषः स भेदभाक् ।
आददे गुरुणा दत्तं नोपदेशेष्वयं विधिः ॥ १६९ ॥
न निषिद्धस्तदादेशो गृहिणां व्रतधारिणाम् ।
दीक्षाचार्येण दीक्षेव दीयमानास्ति तत्क्रिया ॥ १७० ॥
ऐदेशाभावत नात्र क्रियतेऽन्येन तेन वा ॥
स निषिद्धो यथाम्नायादव्रतिना मनागपि ।
हिंसकश्चोपदेशोऽपि नोपयुज्योऽत्र कारणात् ॥ १७१ ॥
मुनिव्रतधराणां वा गृहस्थव्रतधारिणाम् ।
आदेशश्चोपदेशो वा न कर्तव्यो वधाश्रितः ॥ १७२ ॥
न चाशङ्क्यं प्रसिद्धं यन्मुनिभिर्व्रतधारिभिः ।
मूर्तिमच्छक्तिसर्वस्वं हस्तरेखेव दर्शितम् ॥ १७३ ॥
नूनं प्रोक्तोपदेशोऽपि न रागाय विरागिणाम् ।
रागिणामेव रागाय ततोऽवश्यं निषेधितः ॥ १७४ ॥
न निषिद्धः स आदेशो नोपदेशो निषेधितः ।
नूनं सत्पात्रदानेषु पूजायामर्हतामपि ॥ १७५ ॥
यद्वादेशोपदेशौ स्तौ द्वौ निरवद्यकर्मणि ।
यत्र सावद्यलेशोऽस्ति तत्रादेशो न जातुचित् ॥ १७६ ॥

[illegible]

सहासंयमिभिर्लोकैः संसर्गं भाषणं रतिम् ।
कुर्यादाचार्य इत्येकेनासौ सूरिर्नचार्हतः ॥ १७७ ॥
संघसम्पोषकः सूरिः प्रोक्तः कैश्चिन्मतेरिह ।
धर्मादेशोपदेशाभ्यां नोपकारोऽपरोऽस्त्यतः ॥ १७८ ॥
यद्वा मोहात्प्रमादाद्वा कुर्याद्यो लौकिकीं क्रियाम् ।
तावत्कालं स नाचार्योऽप्यस्ति चान्तर्व्रताच्च्युतः ॥ १७९ ॥
इत्युक्तव्रततपःशीलसंयमादिधरो गणी ।
नमस्यः स गुरुः साक्षात्तदन्यो न गुरुर्गणी ॥ १८० ॥
उपाध्यायः स साध्वीयान् वादी स्याद्वादकोविदः ।
वाग्मी वाग्ब्रह्मसर्वज्ञः सिद्धान्तागमपारगः ॥ १८१ ॥
कविः प्रत्यग्रसूत्राणां शब्दार्थैः सिद्धसाधनात् ।
गमकोऽर्थस्य माधुर्ये धुर्यो वक्तृत्ववर्त्मनाम् ॥ १८२ ॥
उपाध्यायत्वमित्यत्र श्रुताभ्यासोऽस्ति कारणम् ।
यदध्येति स्वयं चापि शिष्यानध्यापयेद्गुरुः ॥ १८३ ॥
शेषस्तत्र व्रतादीनां सर्वसाधारणो विधिः ।
कुर्याद्धर्मोपदेशं स नादेशं सूरिवत्क्वचित् ॥ १८४ ॥
तेषामेवाश्रमं लिङ्गं सूरीणां संयमं तपः ।
आश्रयेत् शुद्धचारित्रं पञ्चाचारं स शुद्धधीः ॥ १८५ ॥
मूलोत्तरगुणानेव यथोक्तानाचरेच्चिरम् ।
परिषहोपसर्गाणां विजयी स भवेद्ध्रुवम् ॥ १८६ ॥
अत्रातिविस्तरेणालं नूनमन्तर्बहिर्मुने. ।
शुद्धवेषधरो धीरो निर्ग्रन्थः स गणाग्रणी ॥ १८७ ॥
उपाध्यायः समाख्यातो विख्यातोऽस्ति स्वलक्षणै ।
अधुना साध्यते साधोर्लक्षणं सिद्धमागमात् ॥ १८८ ॥
मार्गं मोक्षस्य चारित्रं सदृग्ज्ञप्तिपुरस्सरम् ।
साधयत्यात्मसिद्ध्यर्थं साधुरन्वर्थसंज्ञकः ॥ १८९ ॥

१ गुर्नान्यप्रमाणा ।
५ स्त. सं.

नोच्चैर्वाचंयमी किञ्चिद्धस्तपादादिसंज्ञया ।
न किञ्चिद्दर्शयेत्स्वस्थो मनसापि न चिन्तयेत् ॥ १९० ॥
आस्ते स शुद्धमात्मानमास्तिघ्नुवानश्च परम् ।
स्तिमितान्तर्बहिर्जल्पो निस्तरङ्गाब्धिवन्मुनिः ॥ १९१ ॥
नादेशं नोपदेशं वा नादिशेत्स मनागपि ।
स्वर्गापवर्गमार्गस्य तद्विपक्षस्य किं पुनः ॥ १९२ ॥
वैराग्यस्य परां काष्ठामधिरूढोऽधिकप्रभः ।
दिगम्बरो यथाजातरूपधारी दयापरः ॥ १९३ ॥
निर्ग्रन्थोऽन्तर्बहिर्मोहग्रन्थेरुद्ग्रन्थको यमी ।
कर्मनिर्जरकः श्रेण्या तपस्वी स तपःशुचिः ॥ १९४ ॥
परीषहोपसर्गाद्यैरजय्यो जितमन्मथः ।
एषणाशुद्धिसंशुद्धः प्रत्याख्यानपरायणः ॥ १९५ ॥
इत्याद्यनेकधाऽनेकैः साधुः साधुगुणैः श्रितः ।
नमस्यः श्रेयसेऽवश्यं नेतरो विदुषां महान् ॥ १९६ ॥
एवं मुनित्रयी ख्याता महती महतामपि ।
तद्विशुद्धिविशेषोऽस्ति क्रमात्तरतमात्मकः ॥ १९७ ॥
तत्राचार्यः प्रसिद्धोऽस्ति दीक्षादेशाद्गणाग्रणीः ।
न्यायाद्वा दर्शनोऽप्यत्र सिद्धः स्यात्तदनन्यतत्परः ॥ १९८
अर्थाज्ज्ञानतरांशेन दर्शमोहानुदयात्मनः ।
अस्ति तेनाविनाभूतशुद्धात्मानुभवः स्फुटम् ॥ १९९ ॥
अप्यस्ति दर्शनस्यात्र चारित्रावरणक्षतिः ।
वाक्यार्थान्न केवलं न स्यात्क्षतिर्वापि तदक्षतिः ॥ २०० ॥
तथापि न यदि वस्तु स्याद्धेतुरहेतुतः ।
अस्त्युपादानहेतोश्च तत्क्षतिर्वा तदक्षतिः ॥ २०१ ॥

१ "सोयचम्" इत्यपि पाठः । २ सम्प्रुः "वाचंयमे" इति स पुस्तके पाठः । ३ कर्मनिर्जरकारिणः । ४ संख्या ।

संति संज्वलनस्योच्चैः स्पर्द्धका देशघातिनः ।
तद्विपाकोऽस्त्यमन्दो वा मन्दो हेतुः क्रमाद्द्वयोः ॥ २०२ ॥
संक्लेशस्तत्क्षतिर्नूनं विशुद्धिस्तु तदक्षतिः ।
सोऽपि तरतमस्वांशैः सोऽप्यनेकैरनेकधा ॥ २०३ ॥
अस्तु यद्वा न शैथिल्यं तत्र हेतुवशादिह ।
तथाप्येतावताचार्यः सिद्धो नात्मन्यतत्परः ॥ २०४ ॥
तत्रावश्यं विशुद्ध्यंशस्तेषां मन्दोदयादिह ।
संक्लेशांशोऽथवा तीव्रोदयाभावं विधिः स्मृतः ॥ २०५ ॥
किन्तु दैवाद्विशुद्ध्यंशः संक्लेशांशोऽथ वा क्वचित् ।
तद्विशुद्धेर्विशुद्ध्यंशः संक्लेशांशादयं पुनः ॥ २०६ ॥
तेषां तीव्रोदयात्तावदेतावानत्र बाधकः ।
सर्वतश्चेत्प्रकोपी च नापराधोऽस्त्यसौ परः ॥ २०७ ॥
तेनात्रैतावता नूनं शुद्धस्यानुभवच्युतिः ।
कर्तुं न शक्यते यस्मादत्रास्त्यन्यः प्रयोजकः ॥ २०८ ॥
हेतुः शुद्धात्मनो ज्ञाने शमो मिथ्यात्वकर्मणः ।
प्रत्यनीकस्तु तत्रोच्चैरशमस्तस्य व्यत्ययात् ॥ २०९ ॥
दृङ्मोहेऽस्तंगते पुंसः शुद्धस्यानुभवो भवेत् ।
न भवेद्विघ्नकरः कश्चिच्चारित्रावरणोदयः ॥ २१० ॥
यथाकिंचित्करश्चैव चारित्रावरणोदयः ।
दृङ्मोहस्य क्षतेनालमलं स्वस्य कृते च यः ॥ २११ ॥
कार्यं चारित्रमोहस्य चारित्राच्च्युतिरात्मनः ।
नात्मदृष्टेस्तु दृष्टित्वान्न्यायादितरदृष्टिवत् ॥ २१२ ॥
यथा चक्षुः प्रसन्नं वै कस्यचिद्दैवयोगतः ।
इतरत्राक्षतापेऽपि दृष्टाध्यक्षान्न तत्क्षतिः ॥ २१३ ॥

१ संक्लेश। २ सा अभिविशुद्धिः। ३ वैपरीत्यात्।

कषायाणामनुद्रेकश्चारित्रं तावदेव हि ।
नानुद्रेकः कषायाणां चारित्राच्च्युतिरात्मनः ॥ २१४ ॥
ततस्तेषामनुद्रेकः स्यादुद्रेकोऽथवा स्वतः ।
नात्मदृष्टेः क्षतिर्नूनं दृग्मोहस्योदयादृते ॥ २१५ ॥
अथ सूरिरुपाध्यायः द्वावेतौ हेतुतः समौ ।
साधुरिवात्मज्ञौ शुद्धौ शुद्धौ शुद्धोपयोगिनौ ॥ २१६ ॥
नापि कश्चिद्विशेषोस्ति द्वयोर्मिथस्तरतमो मिथः ।
नैताभ्यामन्यस्तदुत्कर्षः साधोरप्यतिशायनात् ॥ २१७ ॥
लेशतोस्ति विशेषश्चेन्मिथस्तेषां बहिः कृतः ।
का क्षतिर्मूलहेतोः स्यादन्तःशुद्धिसमन्वितः ॥ २१८ ॥
नास्त्यत्र नियतः कश्चिद्युक्तिस्वानुभवागमात् ।
मन्दादिरुदयस्तेषां सूर्युपाध्यायसाधुषु ॥ २१९ ॥
प्रत्येकं बहवः सन्ति सूर्युपाध्यायसाधवः ।
जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदैश्चैकैकशः पृथक् ॥ २२० ॥
कश्चित्सूरिः कदाचिद्वै विशुद्धिं परमां गतः ।
मध्यमां वा जघन्यां वा स्वोचितां पुनराश्रयेत् ॥ २२१ ॥
हेतुस्तत्रोदिता नानाभावांशैः स्पर्द्धकाः क्षणम् ।
धर्मादेशोपदेशादिहेतुर्नात्र बहिः क्वचित् ॥ २२२ ॥
परिपाट्यानया योग्याः पाठकाः साधवश्च ये ।
न विशेषो यतस्तेषां नियतः शेषो विशेषभाक् ॥ २२३ ॥
ननु धर्मोपदेशादि कर्म तत्कारणं बहिः ।
हेतोरभ्यन्तरस्यापि बाह्यं हेतुर्बहिः क्वचित् ॥ २२४ ॥
नैवमर्थाद्यतः सर्वं वस्त्वकिञ्चित्करं बहिः ।
तत्पदं फलवन्मोहादिच्छतोऽप्यान्तरं परम् ॥ २२५ ॥
किं पुनर्गणिनस्तस्य सर्वतोनिच्छतो बहिः ।
धर्मादेशोपदेशादिस्वपदं तत्फलं च यत् ॥ २२६ ॥

नास्यासिद्धं निरीहत्वं धर्मादेशादिकर्मणि ।
न्यायादक्षार्थकांक्षाया ईहा नान्यत्र जातुचित् ॥ २२७ ॥
ननु नेहां विना कर्म, कर्मनेहां विना क्वचित् ।
तस्मान्नानीहितं कर्म स्यादक्षार्थस्तु वा नवा ॥ २२८ ॥
नैवं हेतोरतिव्याप्तेरारादाक्षीणमोहिषु ।
बन्धस्य नित्यतापत्तेर्भवेन्मुक्तेरसम्भवः ॥ २२९ ॥
ततोऽस्त्यन्तः कृतो भेदः शुद्धेनांशेन तत्त्रिषु ।
निर्विशेषात्समस्त्येव पक्षो माभूद्बहिः कृतः ॥ २३० ॥
किञ्चास्ति यौगिकी रूढिः प्रसिद्धा परमागमे ।
विना साधुपदं न स्यात्केवलोपात्तिरञ्जसा ॥ २३१ ॥
तत्राप्नुनीमिदं सम्यक् साक्षात्सर्वार्थदर्शिनः ।
क्षणमस्ति स्वतः श्रेण्यामधिरूढस्य तत्पदम् ॥ २३२ ॥
यतोऽवश्यं स सूरिर्वा पाठकः श्रेण्यनेहसि ।
कृत्स्नचिन्तानिरोधात्मलक्षणं ध्यानमाश्रयेत् ॥ २३३ ॥
ततः सिद्धमनायासात्तत्पदत्वं तयोरिह ।
नूनं बाह्योपयोगस्य नावकाशोऽस्ति तत्र यत् ॥ २३४ ॥
न पुनश्चरणं तत्र छेदोपस्थापना वरम् ।
त्यागादाय क्षणं पश्चात्सूरिः साधुपदं श्रयेत् ॥ २३५ ॥
उक्तं दिग्मात्रमत्रापि प्रसङ्गाद्गुरुलक्षणम् ।
शेषं विशेषतो ज्ञेयं तत्स्वरूपं जिनागमात् ॥ २३६ ॥
धर्मो नीचपदादुच्चैः पदे धरति धार्मिकम् ।
तत्राजवंजवो नीचैः पदमुच्चैस्तदत्ययः ॥ २३७ ॥
सम्यग्दृग्ज्ञप्तिचारित्रं धर्मो रत्नत्रयात्मकः ।
तत्र सद्दर्शनं मूलं हेतुरद्वैतमेतयोः ॥ २३८ ॥
ततः सागाररूपो वा धर्मोऽनागार एव वा ।
सदृक्पुरस्सरो धर्मो न धर्मस्तद्विना क्वचित् ॥ २३९ ॥

---

१ दिवत् इति पाठः 'ख' पुस्तके पञ्चाध्याय्याश्च । २ संसारः । ३ संसारनाशः— मोक्षः ।

रूढितोऽधिवपुर्वाचां क्रिया धर्मः शुभावहा ।
तत्रानुकूलरूपा या मनोवृत्तिः सहानया ॥ २४० ॥
सा द्विधा स च सागारानागाराणां विशेषतः ।
यतः क्रियाविशेषत्वान्नूनं धर्मो विशेषतः ॥ २४१ ॥
तत्र हिंसानृतस्तेयाब्रह्मकृत्स्नपरिग्रहात् ।
देशतो विरतिः प्रोक्तं गृहस्थानामणुव्रतम् ॥ २४२ ॥
यतेर्मूलगुणाश्चाष्टाविंशतिर्मूलवत्तरोः ।
नात्राप्यन्यतरेणोना नातिरिक्ताः कदाचन ॥ २४३ ॥
सर्वैरेव समस्तैश्च सिद्धं यावन्मुनिव्रतम् ।
न व्यस्तैर्व्यस्तमात्रं तु यावदंशनयादपि ॥ २४४ ॥

उक्तं च ।

वद[1] समिदिंदियरोधो लोचो आवसयमचेलमन्हाणं ।
खिदिसयणमदंतवणं ठिदिभोयणमेयभत्तं च ॥ २४५ ॥
एते मूलगुणाः प्रोक्ताः यतीनां जैनशासने ।
लक्षाणां चतुरशीतिर्गुणाश्चोत्तरसंज्ञकाः ॥ २४६ ॥
ततः सागारधर्मो वाऽनगारो वा यथोदितः ।
प्राणिसंरक्षणं मूलमुभयत्राविशेषतः ॥ २४७ ॥
उक्तमस्ति क्रियारूपं व्यासाद्व्रतकदम्बकम् ।
सर्वसावद्ययोगस्य तदेकस्य निवृत्तये ॥ २४८ ॥
अर्थाज्जैनोपदेशोयमस्त्यादेशः स एव च ।
सर्वसावद्ययोगस्य निवृत्तिर्व्रतमुच्यते ॥ २४९ ॥
सर्वशब्देन तत्रान्तर्बहिर्वर्तिपदार्थतः ।
प्राणोच्छेदो हि सावद्यं सैव हिंसा प्रकीर्तिता ॥ २५० ॥
योगस्तत्रोपयोगो वा बुद्धिपूर्वः स उच्यते ।
सूक्ष्मश्चाबुद्धिपूर्वो यः स स्मृतो योग इत्यपि ॥ २५१ ॥

---

१ व्रतानि समितयः इन्द्रियनिरोधाः लोचः आवश्यकानि अचेलं अस्नानम् । क्षितिशयनं अदन्तधावनं स्थितिभोजनं एकभुक्तं च । २ निम्नारात् ।

नूनं सद्दर्शनज्ञानचारित्रैर्मोक्षपद्धतिः ।
समस्तैरेव न व्यस्तैस्तत्किं चारित्रमात्रया ॥ २६५ ॥
सत्यं सद्दर्शनं ज्ञानं चारित्रान्तर्गतं मिथः ।
त्रयाणामविनाभावाद् रत्नत्रयमखण्डितम् ॥ २६६ ॥
किञ्च सद्दर्शनं हेतुः संविच्चारित्रयोर्द्वयोः ।
सम्यग्विशेषणस्योच्चैर्यद्वा प्रत्यग्जन्मनः ॥ २६७ ॥
अर्थोयं सति सम्यक्त्वे ज्ञानचारित्रमत्र यत् ।
भूतपूर्वं भवेत्सम्यक् सूते वा भूतपूर्वकम् ॥ २६८ ॥
शुद्धोपलब्धिशक्तिर्याल्लब्धिज्ञानातिशायिनी ।
सा भवेत्सति सम्यक्त्वे शुद्धोभावोथवापि च ॥ २६९ ॥
यत्पुनर्द्रव्यचारित्रं श्रुतज्ञानं विनापि दृक् ।
न तद्ज्ञानं न चारित्रमस्ति चेत्कर्मबन्धकृत् ॥ २७० ॥
तेषामन्यतमोद्देशो नालं दोषाय जातुचित् ।
मोक्षमार्गैकसाध्यस्य साधकानां स्मृतेरपि ॥ २७१ ॥
बन्धो मोक्षश्च ज्ञातव्यः समासात्प्रश्नकोविदैः ।
रागांशैर्बन्ध एव स्यान्नारागांशैः कदाचन ॥ २७२ ॥

उक्तं च ।

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥ २७३ ॥
येनांशेन तु ज्ञानं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥ २७४ ॥
येनांशेन चरित्रं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥ २७५ ॥
उक्तो धर्मस्वरूपोपि प्रसङ्गात्सङ्गतोंशतः ।
कविर्लब्धावकाशस्तं विस्तराद्वा करिष्यति ॥ २७६ ॥

---

१ पूर्वं भूतं उत्पन्न भूतपूर्वं सम्यक्त्वम् । २ स्मरणात् । ३ संक्षेपात् ।

देवे गुरौ तथा धर्मे दृष्टिस्तत्त्वार्थदर्शिनी ।
ख्यातास्त्यमूढदृष्टिः स्यादन्यथा मूढदृष्टिता ॥ १७७ ॥
सम्यक्त्वस्य गुणोऽप्येष नालं दोषाय लक्षितः ।
सम्यग्दृष्टिर्यतोऽवश्यं यथा स्यान्न तथेतरः ॥ १७८ ॥
उपबृंहणनामास्ति गुणः सम्यग्दृगात्मनः ।
लक्षणादात्मशक्तीनामवश्यं बृंहणादिह ॥ १७९ ॥
आत्मशुद्धेरदौर्बल्यकरणं चोपबृंहणम् ।
अर्थाद्दृग्ज्ञप्तिचारित्रभावादस्खलितं हि तत् ॥ १८० ॥
ज्ञानस्यैव हि शेषात्पौरुषं नात्मदर्शने ।
तथापि यत्नवानत्र पौरुषं प्रेरयन्निव ॥ १८१ ॥
यद्वा शुद्धोपलब्ध्यर्थमभ्यसेदपि तद्धि ।
सत्क्रिया काचिदर्थान्तरतयाप्युपयोगिनाम् ॥ १८२ ॥
नायं शुद्धोपलब्धौ स्याल्लेशतोऽपि प्रमादवान् ।
निष्प्रमादतयाऽऽत्मानमाददानः समादरात् ॥ १८३ ॥
इतरं सेवमानोऽपि बाह्यकार्ये न बाधते ।
आत्मनोऽशुद्धतापन्नानुभागानामभावतापि ॥ १८४ ॥
यद्वा सिद्धं विनायासात्स्वतस्तत्त्वोपबृंहणम् ।
ऊर्ध्वमूर्ध्वं गुणश्रेणौ निर्जराया शुभस्थवात् ॥ १८५ ॥
अवश्यं भाविनी तत्र निर्जरा कृत्स्नकर्मणाम् ।
प्रतिसूक्ष्मक्षणं यावदसंख्येयगुणक्रमात् ॥ १८६ ॥
स्याद्यावाग्रातसंग्रहै यावन्नोदेति शक्तिनी ।
शुद्धिः शुद्धोपयोगस्य वृद्धिर्वृद्धिः पुनः पुनः ॥ १८७ ॥
यथा यथा विशुद्धिः स्याद्दृष्टिसिद्धिःप्रकाशिनी ।
तथा तथा दर्शनानामुपेक्षा विषयेष्वपि ॥ १८८ ॥
ततो भूमिं त्रिलोकाग्रे मात्मशक्तिं न लोपयेत् ।
किन्तु सेवयेद्यन्नूनं यत्नादपि च दृष्टिमान् ॥ १८९ ॥

१ अपेत्यपलब्धव्यम् । २ बहुलेनाभ्यो ।

ननु सद्दर्शनज्ञानचारित्रैर्मोक्षपद्धतिः ।
समस्तैरेव न व्यस्तैस्तत्किं चारित्रमात्रया ॥ २६५ ॥
सत्यं सद्दर्शनं ज्ञानं चारित्रान्तर्गतं मिथः ।
त्रयाणामविनाभावाद् रत्नत्रयमखण्डितम् ॥ २६६ ॥
किन्तु सद्दर्शनं हेतुः संविच्चारित्रयोर्द्वयोः ।
सम्यग्विशेषणस्योच्चैर्यद्वा प्रत्यग्रजन्मनः ॥ २६७ ॥
अर्थोऽयं सति सम्यक्त्वे ज्ञानचारित्रमत्र यत् ।
भूतपूर्वं भवेत्सम्यक् सूते वा भूतपूर्वकम् ॥ २६८ ॥
शुद्धोपलब्धिशक्तिर्या लब्धिज्ञानातिशायिनी ।
सा भवेत्सति सम्यक्त्वे शुद्धो भावोऽथवापि च ॥ २६९ ॥
यत्पुनर्द्रव्यचारित्रं श्रुतज्ञानं विनापि दृक् ।
न तज्ज्ञानं न चारित्रमस्ति चेत् कर्मबन्धकृत् ॥ २७० ॥
तेषामन्यतमस्यैको नास्य दोषाय जातुचित् ।
मोक्षमार्गैकमात्रस्य साधकानां स्मृतेरपि ॥ २७१ ॥
बन्धो मोक्षश्च ज्ञातव्यः समासात्प्रश्नकोविदैः ।
रागांशैर्बन्ध एव स्यान्नारागांशैः कदाचन ॥ २७२ ॥

उक्तं च ।

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥ २७३ ॥
येनांशेन तु ज्ञानं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥ २७४ ॥
येनांशेन चरित्रं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥ २७५ ॥
[illegible] धर्मध्यानमपि प्रमत्ताप्रमत्तभेदतः ।
[illegible] विस्मयाद्वा करिष्यति ॥ २७६ ॥

[illegible]

नूनं सद्दर्शनज्ञानचारित्रैर्मोक्षपद्धतिः ।
समग्रैरेव न व्यस्तैस्तत्किं चारित्रमात्रया ॥ २६५ ॥
सत्यं सद्दर्शनं ज्ञानं चारित्रान्तर्गतं मिथः ।
त्रयाणामविनाभावाद् रत्नत्रयमखण्डितम् ॥ २६६ ॥
किञ्च सद्दर्शनं हेतुः संविच्चारित्रयोर्द्वयोः ।
सम्यग्विशेषणस्योच्चैर्यद्वा प्रत्यग्रजन्मनः ॥ २६७ ॥
अर्थोऽयं सति सम्यक्त्वे ज्ञानचारित्रमत्र यत् ।
भूतपूर्वं भवेत्सम्यक् सूते वा भूतपूर्वकम् ॥ २६८ ॥
शुद्धोपलब्धिशक्तिर्या लब्धिज्ञानातिशायिनी ।
सा भवेत्सति सम्यक्त्वे शुद्धो भावोऽथवापि च ॥ २६९ ॥
यत्पुनर्द्रव्यचारित्रं श्रुतज्ञानं विनापि दृक् ।
न तज्ज्ञानं न चारित्रमस्ति चेत्कर्मबन्धकृत् ॥ २७० ॥
तेषामन्यतमोद्देशो नालं दोषाय जातुचित् ।
मोक्षमार्गैकसाध्यस्य साधकानां स्मृतेरपि ॥ २७१ ॥
बन्धो मोक्षश्च ज्ञातव्यः समासात्प्रश्नकोविदैः ।
रागांशैर्बन्ध एव स्यान्नारागांशैः कदाचन ॥ २७२ ॥

उक्तं च ।

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥ २७३ ॥
येनांशेन तु ज्ञानं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥ २७४ ॥
येनांशेन चरित्रं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥ २७५ ॥
उक्तो धर्मस्वरूपोऽपि प्रसङ्गात्सङ्गतोंऽशतः ।
कविर्लब्धावकाशस्तं विस्तराद्वा करिष्यति ॥ २७६ ॥

---

१ पूर्वं सूते उत्पन्ने भूतपूर्वं सम्यक्त्वम् । २ स्मरणात् । ३ संक्षेपात् ।

देवे गुरौ तथा धर्मे दृष्टिस्तत्त्वार्थदर्शिनी ।
ख्यातास्यमूढदृष्टिः स्यादन्यथा मूढदृष्टिता ॥ २७७ ॥
सम्यक्त्वस्य गुणोऽप्येष नालं दोषाय लक्षितः ।
सम्यग्दृष्टिर्यतोऽवश्यं यथा स्यान्न तथेतरः ॥ २७८ ॥
उपबृंहणमत्रास्ति गुणः सम्यग्दृगात्मनः ।
लक्षणादात्मशक्तीनामवश्यं बृंहणादिह ॥ २७९ ॥
आत्मशक्तेरदौर्बल्यकरणं चोपबृंहणम् ।
अर्थाद्दृग्ज्ञप्तिचारित्रभावादस्खलनं हि तत् ॥ २८० ॥
ज्ञानमप्येष निःशेषात्पौरुषं नात्मदर्शने ।
तथापि यत्नवानत्र पौरुषं प्रेरयन्निव ॥ २८१ ॥
यद्वा शुद्धोपलब्ध्यर्थमभ्यसेदपि तद्बहिः ।
सत्क्रिया काश्चिदप्यर्थास्तस्मात्यानुपयोगिनाम् ॥ २८२ ॥
नायं शुद्धोपलब्धौ स्याल्लेशतोऽपि प्रमादवान् ।
निष्प्रमादतयात्मानमाददानः समादरात् ॥ २८३ ॥
रसेन्द्रं सेवमानोऽपि कापथ्यं न चाचरेत् ।
आत्मनोऽनुल्लाघतामुक्षमोऽल्लाघतामपि ॥ २८४ ॥
यद्वा सिद्धं विनायासात्स्वतस्तत्रोपबृंहणम् ।
ऊर्ध्वमूर्ध्वं गुणश्रेणौ निर्जरायाः सुसम्भवात् ॥ २८५ ॥
अवश्यं भाविनी तत्र निर्जरा कृत्स्नकर्मणाम् ।
प्रतिसूक्ष्मक्षणं यावदसंख्येयगुणक्रमात् ॥ २८६ ॥
न्यायादायातमेतद्धि यावतांशेन तत्क्षितौ ।
शुद्धि शुद्धोपयोगस्य वृद्धिर्वृद्धिः पुनः पुन ॥ २८७ ॥
यथा यथा विशुद्धिः स्याद्बुद्धिरन्तःप्रकाशिनी ।
तथा तथा हृषीकानामुपेक्षा विषयेष्वपि ॥ २८८ ॥
ततो भूम्नि क्रियाकाण्डे नात्मशक्तिं स लोपयेत् ।
किन्तु संवर्धयन्नूनं यत्नादपि च दृष्टिमान् ॥ २८९ ॥

---

१ अर्हैकान्ताभिलाषम् । २ बहिःक्रियाकर्मणि ।

नूनं सद्दर्शनज्ञानचारित्रैर्मोक्षपद्धतिः ।
समस्तैरेव न व्यस्तैर्व्यक्ति चारित्रमात्रया ॥ २६५ ॥
सत्यं सद्दर्शने ज्ञानं चारित्रान्तर्गतं मिथः ।
त्रयाणामविनाभावाद् रत्नत्रयमखण्डितम् ॥ २६६ ॥
किञ्च सद्दर्शनं हेतुः संविच्चारित्रयोर्द्वयोः ।
सम्यग्विशेषणस्योच्चैर्यद्वा प्रत्यग्रजन्मनः ॥ २६७ ॥
अर्थोऽयं सति सम्यक्त्वे ज्ञानचारित्रमत्र यत् ।
भूतपूर्वं भवेत्सम्यक् सूते वा भूतपूर्वकम् ॥ २६८ ॥
शुद्धोपलब्धिशक्तिर्यालब्धिज्ञानातिशायिनी ।
सा भवेत्सति सम्यक्त्वे शुद्धोभावोऽथवापि च ॥ २६९ ॥
यत्पुनर्द्रव्यचारित्रं श्रुतज्ञानं विनापि दृक् ।
न तद्ज्ञानं न चारित्रमस्ति चेत्कर्मबन्धकृत् ॥ २७० ॥
तेषामन्यतमोद्देशो नालं दोषाय जातुचित् ।
मोक्षमार्गैकसाध्यस्य साधकानां स्मृतेरपि ॥ २७१ ॥
बन्धो मोक्षश्च ज्ञातव्यः समासात्प्रश्नकोविदैः ।
रागांशैर्बन्ध एव स्यान्नारागांशैः कदाचन ॥ २७२ ॥

उक्तं च ।

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥ २७३ ॥
येनांशेन ज्ञानं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥ २७४ ॥
येनांशेन चरित्रं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥ २७५ ॥
उक्तो धर्मस्वरूपोऽपि प्रसङ्गात्सङ्गतोंऽशतः ।
कविर्लब्धावकाशस्तं विस्तराद्वा करिष्यति ॥ २७६ ॥

---

१ पूर्वं भूत उत्पन्ने भूतपूर्वं भवत् यत् । २ समस्तात् । ३ संसारात् ।

नूनं सद्दर्शनज्ञानचारित्रैर्मोक्षपद्धतिः ।
समस्तैरेव न व्यस्तैस्ताभ्यां चारित्रमात्रया ॥ २६५ ॥
ननु सद्दर्शनं ज्ञानं चारित्रात्मगतं मिथः ।
[illegible] ॥ २६६ ॥
किञ्च सद्दर्शनं हेतुः [illegible]
[illegible] ॥ २६७ ॥
अर्थात् [illegible] ।
[illegible] ॥ २६[illegible] ॥
[illegible]
[illegible] ॥ [illegible] ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥ [illegible] ॥
[illegible]
[illegible] ॥ [illegible] ।
[illegible] ।
[illegible] ॥ [illegible] ।

उक्तं च

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥ [illegible] ।
येनांशेन तु ज्ञानं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥ [illegible]
येनांशेन चरित्रं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥ [illegible] ।
[illegible]
[illegible] ॥ [illegible] ।

[illegible]

देवे गुरौ तथा धर्मे दृष्टिस्तत्त्वार्थदर्शिनी ।
ख्यातात्यमूढदृष्टिः स्यादन्यथा मूढदृष्टिता ॥ २७७ ॥
सम्यक्त्वस्य गुणोऽप्येष नालं दोषाय लक्षितः ।
सम्यग्दृष्टिर्यतोऽवश्यं यथा स्यान्न तथेतरः ॥ २७८ ॥
उपबृंहणमत्रास्ति गुणः सम्यग्दृगात्मनः ।
लक्षणादात्मशक्तीनामवश्यं बृंहणादिह ॥ २७९ ॥
आत्मशुद्धेरदौर्बल्यकरणं चोपबृंहणम् ।
अर्थाद्दृग्ज्ञानचारित्रभावादस्खलनं हि तत् ॥ २८० ॥
ज्ञानमप्येष निःशेषात्पौरुषं नात्मदर्शने ।
तथापि यत्नवानत्र पौरुषं प्रेरयन्निव ॥ २८१ ॥
यद्वा शुद्धोपलब्ध्यर्थमभ्यसेदपि तद्वहि ।
सत्क्रिया काश्चिदप्यर्थात्तत्रमात्यानुपयोगिनाम् ॥ २८२ ॥
नायं शुद्धोपलब्धौ स्याल्लेशतोऽपि प्रमादवान् ।
निष्प्रमादतयात्मानमाददान समादरात् ॥ २८३ ॥
रसेन्द्रं सेवमानोऽपि काम्यपथ्यं न चाचरेत् ।
आत्मनोऽनुल्लाघतामुक्षमोऽप्युल्लाघतामपि ॥ २८४ ॥
यद्वा सिद्धं विनायासात्स्वतस्तत्रोपबृंहणम् ।
ऊर्ध्वमूर्ध्वं गुणश्रेणौ निर्जरायाः सुसम्भवात् ॥ २८५ ॥
अवश्यं भाविनी तत्र निर्जरा कृत्स्नकर्मणाम् ।
प्रतिसूक्ष्मक्षणं यावदसंख्येयगुणक्रमात् ॥ २८६ ॥
न्यायादायातमेतद्धै यावतांशेन तत्क्षितौ ।
शुद्धिः शुद्धोपयोगस्य वृद्धिर्वृद्धिः पुनः पुनः ॥ २८७ ॥
यथा यथा विशुद्धिः स्याद्बुद्धिरन्तःप्रकाशिनी ।
तथा तथा हृषीकाणामुपेक्षा विषयेष्वपि ॥ २८८ ॥
ततो भूम्नि क्रियाकाण्डे नात्मशक्तिं स लोपयेत् ।
किन्तु संवर्द्धयन्नूनं यत्नादपि च दृष्टिमान् ॥ २८९ ॥

१ अधिकाराधिविषयम् । २ बहुक्रियासमूहे ।

ननु सद्दर्शनज्ञानचारित्रैर्मोक्षपद्धतिः ।
समस्तैरेव न व्यस्तैस्तत्किं चारित्रमात्रया ॥ २६५ ॥
सत्यं सद्दर्शनं ज्ञानं चारित्रान्तर्गतं मिथः ।
त्रयाणामविनाभावाद् रत्नत्रयमखण्डितम् ॥ २६६ ॥
किञ्च सद्दर्शनं हेतुः संविच्चारित्रयोर्द्वयोः ।
सम्यग्विशेषणस्योच्चैर्यद्वा प्रत्यग्रजन्मनः ॥ २६७ ॥
अर्थोऽयं सति सम्यक्त्वे ज्ञानचारित्रमत्र यत् ।
भूतपूर्वं भवेत्सम्यक् सूते वा भूतपूर्वकम् ॥ २६८ ॥
शुद्धोपलब्धिशक्तिर्या लब्धिज्ञानातिशायिनी ।
सा भवेत्सति सम्यक्त्वे शुद्धो भावोऽथवापि च ॥ २६९ ॥
यत्पुनर्द्रव्यचारित्रं श्रुतज्ञानं विनापि दृक् ।
न तज्ज्ञानं न चारित्रमस्ति चेत् कर्मबन्धकृत् ॥ २७० ॥
तेषामन्यतमोद्देशो नालं दोषाय जातुचित् ।
मोक्षमार्गैकसाध्यस्य साधकानां स्मृतेरपि ॥ २७१ ॥
बन्धो मोक्षश्च ज्ञातव्यः समासात्प्रश्नकोविदैः ।
रागांशैर्बन्ध एव स्यान्नारागांशैः कदाचन ॥ २७२ ॥

उक्तं च ।

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥ २७३ ॥
येनांशेन तु ज्ञानं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥ २७४ ॥
येनांशेन चरित्रं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥ २७५ ॥
उक्तो धर्मस्वरूपोऽपि प्रसङ्गात्सङ्गतोंऽशतः ।
कविर्लब्धावकाशत्वं विस्तराद्वा करिष्यति ॥ २७६ ॥

[illegible]

सौभाग्यं मानुषत्वं वा यदि पुण्यादृते क्वचित् ।
अवाप्स्यद्धस्तलाभो धनलाभोऽप्यचिन्तनात् ॥ ५० ॥
ऐश्वर्यं च महत्त्वं च सौदार्यं सर्वसम्पदा ।
पुण्यं विना न कस्यापि विद्याविज्ञानकौशलम् ॥ ५१ ॥
अथ किं बहुनोक्तेन त्रैलोक्येऽपि च यत्सुखम् ।
पुण्योदयेन हि लभते किंचित्पुण्यं विना नहि ॥ ५२ ॥
तस्मादीदानुना प्राह ' भद्रक शृणु वामन ।
सर्वामयविनाशाय विद्धि पुण्यरसायनम् ॥ ५३ ॥
धीवाय वामनो जातो श्रावकः सर्वशास्त्रवित् ।
पुण्यहेतौ परिज्ञाते तत्त्वगुम्फमपि चोत्सहेत् ॥ ५४ ॥
शृणु श्रावक ' पुण्यस्य कारणं वच्मि साम्प्रतम् ।
देशतो विरतिर्नाम्ना प्रागुक्तं सर्वतो महत् ॥ ५५ ॥
ननु विरतिशब्दोऽपि सापेक्षो भववाचकः ।
कस्माच्च विरतिर्मान्यः कर्तव्यः सा वदाय नः ॥ ५६ ॥
हिंसाया विरतिः प्रोक्ता तथा चानृतभाषणात् ।
चौर्याद्विरतिरप्यासां स्यादब्रह्मपरिग्रहात् ॥ ५७ ॥
एभ्यो देशतो विरतिर्गृहिणोऽस्त्यणुव्रतम् ।
सर्वतो विरतिर्नाम मुनिधार्यं महाव्रतम् ॥ ५८ ॥
ननु हिंसात्वं किं नाम का नाम विरतिस्ततः ।
किं देशत्वं यथाम्नायाद्ब्रूहि मे वदतां वर ॥ ५९ ॥
हिंसा प्रमत्तयोगाद्धि यत्प्राणव्यपरोपणम् ।
लक्षणाल्लक्षिता सूत्रे स्फुटतः पूर्वसूरिभिः ॥ ६० ॥
प्राणाः पञ्चेन्द्रियाणीह वाग्मनोऽङ्गबलत्रयम् ।
निःश्वासोच्छ्वाससंज्ञः स्यादायुरेकं दशेति च ॥ ६१ ॥

---

१ पुण्यार्जनम् ।

२ स्था. सं.

सम्यग्दृशाऽथ मिथ्यात्वशालिनाप्यथशक्तितः ।
अभव्येनापि भव्येन कर्तव्यं व्रतमुत्तमम् ॥ ३७ ॥
यतः पुण्यक्रिया साध्वी कापि नास्तीह निष्फला ।
यथापात्रं यथायोग्यं स्वर्गभोगादिसत्फला ॥ ३८ ॥
पारंपर्येण केषांचिदपवर्गाय सत्क्रिया ।[1]
पञ्चानुत्तरविमाने मुदे ग्रैवेयकादिषु ॥ ३९ ॥
केषांचित्कल्पवासादिश्रेयसे सागरावधि ।
भावनादित्रयेषूच्चैः सुधापानाय जायते ॥ ४० ॥
मानुषाणां च केषांचित्तीर्थङ्करपदाप्तये ।
चक्रित्वार्धचक्रित्वपदसंप्राप्तिहेतवे ॥ ४१ ॥
उत्तमभोगभूपूच्चैः सुखं कल्पतरूद्भवम् ।
एतत्सर्वमहं मन्ये श्रेयसः फलितं महत् ॥ ४२ ॥
सत्कुले जन्म दीर्घायुर्वपुर्गाढं निरामयम् ।
गृहे सम्पदपर्यन्ता पुण्यस्यैतत्फलं विदुः ॥ ४३ ॥
साध्वी भार्या कुलोत्पन्ना भर्तुश्छन्दानुगामिनी ।
सूनवः पितुराज्ञायाः मनागचलिताशयाः ॥ ४४ ॥
सधर्मभ्रातृवर्गाश्च सानुकूलाः सुसंहताः ।
स्निग्धाश्चानुचरा यावदेतत्पुण्यफलं जगुः ॥ ४५ ॥
जैनधर्मे प्रतीतिश्च संयमे शुभभावना ।
ज्ञानशक्तिश्च सूत्रार्थे गुरवश्चोपदेशकाः ॥ ४६ ॥
सधर्मिणः सहायाश्च स्पष्टाक्षरं वाक्पाटवम् ।
सौष्ठवं चक्षुरादीनां मनीषा प्रतिभान्विता ॥ ४७ ॥
सुयशः सर्वलोकेस्मिन् शरदिन्दुसमप्रभम् ।
शासनं स्यादनुल्लंघ्यं पुण्यभाजां न संशयः ॥ ४८ ॥
विजयः स्यादरिध्वंसात्प्रतापस्ताच्छिरोनतिः ।
दण्डाकर्षोऽप्यरिभ्यश्च सर्वं सत्पुण्यपाकतः ॥ ४९ ॥

१ ' ख ' पुस्तके " विमानेषु " इत्यधिपाठः ।

उक्तं च ।

पंचंवि इंदिय पाणा मण वचकायेण तिण्णिवल पाणा ।
आणपाणप्पाणा आउगपाणेण हुंति दह पाणा ॥

एकाक्षे तत्र चत्वारो द्वीन्द्रियेषु षडेव ते ।
त्र्यक्षे सप्त चतुराक्षे विद्यन्तेऽष्टौ यथागमात् ॥ ६२ ॥
नवासंज्ञिनि पञ्चाक्षे प्राणाः संज्ञिनि ते दश ।
मत्वेति किल सद्गस्थैः कर्तव्यं प्राणरक्षणम् ॥ ६३ ॥
अत्रैकाक्षादिजीवाः स्युः प्राणशब्दोपलक्षणात् ।
प्राणादिभिन्नत्वं जीवस्य नेतरस्य कदाचन ॥ ६४ ॥
प्रसङ्गादत्र दिग्मात्रं वाच्यं प्राणिनि कायकम् ।
तत्स्वरूपं परिज्ञाय तद्रक्षां कर्तुमर्हति ॥ ६५ ॥
सन्ति जीवसमासास्ते संक्षेपाच्च चतुर्दश ।
व्यासादसंख्यभेदाश्च सन्त्यनन्ताश्च भावतः ॥ ६६ ॥
तत्र जीवो महीकायः सूक्ष्मः स्थूलश्च स द्विधा ।
पर्याप्तापर्याप्तकाभ्यां भेदाभ्यां स द्विधायथा ॥ ६७ ॥
प्रत्येकं तस्य भेदाः स्युश्चत्वारोपि च तद्यथा ।
शुद्ध भू भूमिजीवश्च भूकायो भूमिकायिकः ॥ ६८ ॥
शुद्धा प्राणोज्झिता भूमिर्यथा स्याद्दग्धमृत्तिका ।
भूजीवोऽथैव भूमौ यो द्रागेष्यति गत्यन्तरात् ॥ ६९ ॥
भूरेव यस्य कायोस्ति यद्वानन्यगतिर्मुखः ।
भूशरीरस्तदात्वेस्य सभूकाय इत्युच्यते ॥ ७० ॥
भूकायिकस्तु भूमिस्थोऽन्यगतौ गन्तुमुत्सुकः ।
स समुद्घातावस्थायां भूकायिक इति स्मृतः ॥ ७१ ॥

---

१ पञ्चअपि इन्द्रियप्राणाः मनोवच.कायेन त्रयःबलप्राणाः । आनप्राणप्राण आयुष्यप्राणेन भवन्ति दश प्राणाः ।

साधारणा निगोताश्च सन्त्येकैकार्थवाचकाः ।
पृथक्पदवदेते सूक्ष्मैर्लोकोऽयं संभृतोऽखिलः ॥ ९१ ॥
आधाराधेयसंबन्धाद् बादरा स्युः क्वचित्क्वचित् ।
नैव प्रतिष्ठिता केचिन्निकोतैश्चाप्रतिष्ठिताः ॥ ९२ ॥
सैराश्रिता यथा प्रोक्ता प्राणिनो मूलकादय ।
अनाश्रिता यथैतैश्च श्रीखण्डाम्रफलादय ॥ ९३ ॥
नचैतस्मिन् शरीरेऽपि सन्त्यनन्ताश्च प्राणिन ।
प्रत्येकाश्च निकोताश्च नाम्ना सूत्रेषु संस्थिता ॥ ९४ ॥

उक्तं च ।

एय णिगोयसरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा ।
सिद्धेहि अणंतगुणा सव्वेण वितीदकालेण ॥
सन्त्येतावद्गुणानन्त्य तद्बोधस्यावबोधन ।
प्रत्यक्षेण च कार्यं ज्ञातव्यं सर्वदर्शिभिः ॥ ९५ ॥
उक्तमेकाक्षजीवानां संक्षेपाल्लक्षणं यथा ।
साम्प्रतं द्वीन्द्रियादीनां त्रसानां वच्मि लक्षणम् ॥ ९६ ॥
लक्षणं यथा सूत्रे त्रसाःस्युर्द्वीन्द्रियादयः ।
पर्याप्तापर्याप्तकाश्च प्रत्येकं ते द्विधा मताः ॥ ९७ ॥
कृमयो द्वीन्द्रिया प्रोक्तास्त्रीन्द्रियाश्च पिपीलिकाः ।
प्रसिद्धमक्षिकाश्चैव भ्रमराश्चतुरिन्द्रिया. ॥ ९८ ॥
पञ्चेन्द्रिया द्विधा ज्ञेया संज्ञिनोऽसंज्ञिनस्तथा ।
संज्ञिनस्तत्र पञ्चाक्षा देवनारकमानुषा ॥ ९९ ॥
तिर्यञ्चस्तत्र पञ्चाक्षा संज्ञिनोऽसंज्ञिनस्तथा ।
प्रत्येकं ते द्विधा ज्ञेया सम्मूर्छिमाश्च गर्भजाः ॥ १०० ॥
लब्ध्यपर्याप्तकास्तत्र तिर्यञ्चो मनुजाश्च ये ।
असंज्ञिनो भवन्त्येव सम्मूर्छिमा न गर्भजाः ॥ १०१ ॥
इति संक्षेपतोऽप्यत्र जीवस्थानान्यथाकथन् ।
तत्स्वरूपं परिज्ञाय कर्तव्या करुणा जनैः ॥ १०२ ॥

क्षुद्रभवायुरेतद्वा सर्वजघन्यमागमात् ।
तद्वदायुर्विशिष्टास्ते जीवाश्चापीव दुःखिताः ॥ ८१ ॥

उक्तं च ।

तिण्णिसयाछत्तीसाछावाट्ठिसहस्सवार मरणाइं ।
अंतोमुहुत्तकाले तावदिया चेव खुद्दभवा ॥

अत्रापर्याप्तशब्देन लब्ध्यपर्याप्तको मतः ।
अपर्याप्तकजीवस्तु स्यात्पर्याप्तक एव हि ॥ ८२ ॥
एवं ज्ञेयं जलादीनां लक्ष्म नो दर्शितं मया ।
ग्रन्थगौरवभीतेर्वा पुनरुक्तभयादपि ॥ ८३ ॥
किञ्चिद्भूम्यादिजीवानां चतुर्णां प्रोक्तलक्ष्मणाम् ।
धातुचतुष्कमेतेषां संज्ञास्याज्जिनशासनात् ॥ ८४ ॥
अथ धातुचतुष्काङ्गाः सम्भवन्त्यप्रतिष्ठिताः ।
साधारणनिकोताद्यैस्तैर्वनस्पतिकायिकैः ॥ ८५ ॥

उक्तं च ।

पुढवी आइचउण्हं तित्थयराहारदेवणिरयंगा ।
अपदिट्ठिदा णिगोदे पदिट्ठिदंगा हवे सेसा ॥

किन्तु धातुचतुष्कस्य पिण्डे सूच्यग्रमात्रके ।
एकाक्षाः सन्त्यसंख्याता नानन्ता नापिसंख्यकाः ॥ ८६ ॥
अयमर्थः पृथिव्यादिकाये यत्नो विधीयताम् ।
तद्वधादिपरित्यागकृत्भावेपि श्रावकैः ॥ ८७ ॥
अनन्तानन्तजीवास्तु स्युर्वनस्पतिकायिकाः ।
पूर्ववत्तेपि सूक्ष्माश्च बादराश्चेति भेदतः ॥ ८८ ॥
पर्याप्तापर्याप्तकाश्च प्रत्येकं चेति ते द्विधा ।
प्रत्येकाः साधारणाश्च विज्ञेया जैनशासनात् ॥ ८९ ॥
सूक्ष्मबादरपर्याप्तापर्याप्तानां च लक्षणम् ।
ज्ञातव्यं यत्प्रागत्रैव निर्दिष्टं नातिविस्तरात् ॥ ९० ॥

साधारणा निगोदाश्च सन्त्येवैकाक्षवाचकाः ।
पृथग्भवद्भिः सूक्ष्मैर्लोकोऽयं संभृतोऽभितः ॥ ९१ ॥
आधाराधेयहेतुत्वाद् बादराः स्युः क्वचित्क्वचित् ।
तेऽपि प्रतिष्ठिताः केचित्केचिच्चाप्रतिष्ठिताः ॥ ९२ ॥
प्रतिष्ठिता यथा प्रोक्ता आर्द्रको मूलकादयः ।
अनाश्रिता यथैतेभ्यो नीरपक्षणकादयः ॥ ९३ ॥
सर्वत्रापि शरीरेऽपि सन्त्यनन्ताश्च प्राणिनः ।
प्रत्येकाख्य निगोताश्च नाम्ना सूत्रेषु संज्ञिताः ॥ ९४ ॥

उक्तं च ।

एय णिगोयसरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा ।
सिद्धेहि अणंतगुणा सव्वेण वितीदकालेण ॥

सम्मेनावगुणस्य गृहीधस्य च कायतः ।
यतस्तद्रक्षणं कार्यं साधकैर्दुःखभीरुभिः ॥ ९५ ॥
इत्येकाक्षजीवानां संक्षेपाल्लक्षणं यथा ।
आगमे द्वीन्द्रियादीनां त्रसानां वच्मि लक्षणम् ॥ ९६ ॥
सल्लक्षणं यथा सूत्रे त्रसा स्युर्द्वीन्द्रियादयः ।
पर्याप्तापर्याप्तकाश्च प्रत्येकं ते द्विधा मताः ॥ ९७ ॥
कृमयो द्वीन्द्रियाः प्रोक्तास्त्रीन्द्रियाश्च पिपीलिकाः ।
प्रसिद्धसंज्ञकाश्चैव भ्रमराश्चतुरिन्द्रियाः ॥ ९८ ॥
पञ्चेन्द्रिया द्विधा ज्ञेया संज्ञिनोऽसंज्ञिनस्तथा ।
संज्ञिनस्तत्र पञ्चाक्षाः देवनारकमानुषाः ॥ ९९ ॥
तिर्यञ्चस्तत्र पञ्चाक्षाः संज्ञिनोऽसंज्ञिनस्तथा ।
प्रत्येकं ते द्विधा ज्ञेया सम्मूर्च्छिमाश्च गर्भजाः ॥ १०० ॥
लब्ध्यपर्याप्तकास्तत्र तिर्यञ्चो मनुजाश्च ये ।
असंज्ञिनो भवन्त्येव सम्मूर्च्छिमा न गर्भजाः ॥ १०१ ॥
इति संक्षेपतोऽप्यत्र जीवस्थानान्यथाकथम् ।
तत्स्वरूपं परिज्ञाय कर्तव्या करुणा जनैः ॥ १०२ ॥

क्षुद्रभवायुरेतद्वा सर्वजघन्यमार्गमात् ।
तद्वदायुर्विशिष्टास्ते जीवाश्चातीव दुःखिताः ॥ ८१ ॥

उक्तं च ।

तिण्णिसयाछत्तीसाछावट्ठिसहस्सवार मरणाइं ।
अंतोमुहुत्तकाले तावदिया चेव खुद्दभवा ॥

अत्रापर्याप्तशब्देन लब्ध्यपर्याप्तको मतः ।
अपर्याप्तकजीवस्तु स्यात्पर्याप्तक एव हि ॥ ८२ ॥
एवं ज्ञेयं जलादीनां लक्ष्म नो दर्शितं मया ।
ग्रन्थगौरवभीतेर्वा पुनरुक्तभयादपि ॥ ८३ ॥
किञ्चिद्भूम्यादिजीवानां चतुर्णां प्रोक्तलक्ष्मणाम् ।
धातुचतुष्कमेतेषां संज्ञास्याज्जिनशासनात् ॥ ८४ ॥
अथ धातुचतुष्काङ्गाः सम्भवन्त्यप्रतिष्ठिताः ।
साधारणनिकोताङ्गैस्तैर्वनस्पतिकायिकैः ॥ ८५ ॥

उक्तं च ।

पुढवी आइचउण्हं तित्थयराहारदेवणिरयंगा ।
अपदिट्ठिदा णिगोदे पदिट्ठिदंगा हवे सेसा ॥

किन्तु धातुचतुष्कस्य पिण्डे सूक्ष्मप्रमात्रके ।
एकाक्षाः सन्त्यसंख्याता नानन्ता नापिसंख्यकाः ॥ ८६
अयमर्थः पृथिव्यादिकाये यत्नो विधीयताम् ।
तद्वधादिपरित्यागशक्त्याभावेपि श्रावकैः ॥ ८७ ॥
अनन्तानन्तजीवास्तु स्युर्वनस्पतिकायिकाः ।
पूर्ववत्तेपि सूक्ष्माश्च बादराश्चेति भेदतः ॥ ८८ ॥
पर्याप्तापर्याप्तकाश्च प्रत्येकं चेति ते द्विधा ।
प्रत्येकाः साधारणाश्च विज्ञेया जैनशासनात् ॥ ८९ ॥
सूक्ष्मबादरपर्याप्तापर्याप्तानां च लक्षणम् ।
ज्ञातव्यं परमागमेव निर्दिष्टं नातिविस्तरात् ॥ ९० ॥

देशशब्दोऽत्र स्थूलार्थे तथा भावाद्विवक्षितः ।
कारणात्स्थूलहिंसादेस्त्यागस्यैवात्र दर्शनात् ॥ १२३ ॥
स्थूलत्वमाद्यं स्थूलत्रसरक्षादिगोचरम् ।
अतिचाराविनाभूतं सातिचारं च सास्रवम् ॥ १२४ ॥
तद्यथा यो निवृत्तः स्यात्त्रसात्मवधादिह ।
न निवृत्तस्तथा पंचस्थावरहिंसया गृही ॥ १२५ ॥
विरताविरताख्यः स स्यादेकस्मिन्ननेहसि ।
लक्षणात्त्रसहिंसायास्त्यागेऽणुव्रतधारकः ॥ १२६ ॥

उक्तं च ।

जो तसवहाउविरओ अविरओ तह थावर वहाओ ।
एक्कसमयम्हि जीवो विरदाविरदो जिणेक्कमई ॥
अत्र तात्पर्यमेवैतत्सर्वारम्भेण श्रूयताम् ।
त्रसकायवधाय स्यात्क्रिया त्याज्या हितायती ॥ १२७ ॥
क्रियायां यत्र विख्यातस्त्रसकायवधो महान् ।
तां तां क्रियामवश्यं स सर्वामपि परित्यजेत् ॥ १२८ ॥
अत्राप्याशङ्कते कश्चिदात्मप्रज्ञापराधतः ।
कुर्याद्धिंसां स्वकार्याय न कार्या स्थावरक्षतिः ॥ १२९ ॥
अयं तेषां विकल्पो यः स्याद्वा कपोलकल्पनात् ।
अर्थाभासस्य भ्रान्तेर्वा नैवं सूत्रार्थदर्शनात् ॥ १३० ॥
तद्यथा सिद्धसूत्रार्थे दर्शितं पूर्वसूरिभिः ।
तत्रार्थोऽयं विना कार्यं न कार्या स्थावरक्षतिः ॥ १३१ ॥
एतत्सूत्र विशेषार्थेऽनवद्यानावधानकैः ।
नूनं तैः स्खलितं मोहात्स्वयमासाद्यसद्ग्रहात् ॥ १३२ ॥
किञ्च कार्यं विना, हिंसां न कुर्यादितिधीमता ।
स्वेष्टानुसंगुणस्थाने कृतार्थत्वाद्गतात्मनः ॥ १३३ ॥
तदुक्तं गोम्मटसारे सिद्धान्ते सिद्धसाधने ।
तत्सूत्रं च यथाम्नायात्स्वर्णितं चास्त्यमाध्यमम् ॥ १३४ ॥

उक्तं च ।

सम्माइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं तु सद्दहदि ।
सद्दहदि असब्भावं अजाणमाणो गुरुणियोगा ॥
अत्र सूत्रे चकारस्य ग्रहणं विना न स्फुटम् ।
गम्यार्थटीकाकारेण टीकायां प्रकटीकृतम् ॥ १३५ ॥
टीका व्याख्या यथा दीक्षितजीवो च सम्यग्दृष्टिमान् ।
उपदिष्टं प्रवचनं जिनोक्तं श्रद्दधाति सः ॥ १३६ ॥
चकारग्रहणादेव न कुर्यान्मतदिमनम् ।
विना कार्यं कृपार्हत्वात्प्रशमादिगुणान्वितः ॥ १३७ ॥
एवमित्यत्र विख्यातं कथितं च जिनागमे ।
न पदार्थो यत्रापि भ्रान्तत्वं हि कुतोऽर्थतः ॥ १३८ ॥
षष्ठप्रमगुणस्थाने हिंसामात्र प्रमभिच्छता ।
त्रसकायवधार्थं या क्रिया त्याज्यास्तिस्रापि च ॥ १३९ ॥
ननु जलानलोर्व्यमरुद्वनस्पतिकेषु च ।
प्रवृत्तौ सन्निकृष्टानां त्रसानां तत्र का कथा ॥ १४० ॥
नैव दोषोऽल्पदोषत्वाद्यद्वा सम्यग्विवेचनात् ।
निष्प्रमादतया तत्र रक्षणे यत्नतत्परात् ॥ १४१ ॥
एवं चेत्तर्हि कृष्यादौ को दोषस्तुल्यकारणात् ।
अशक्यपरिहारस्य तद्वत्तत्रापि सम्भवात् ॥ १४२ ॥
अपि तत्रात्मनिन्दादिभावस्यावश्यभावतः ।
प्रमत्तयोगाद्यभावस्य यथार्थं सम्भवादपि ॥ १४३ ॥
जलादावपि विख्यातास्त्रसाः सन्त्युपलब्धितः ।
कृष्यादौ च त्रसा सन्ति विख्याता क्षितिमण्डले ॥ १४४ ॥
नैवं यतोऽनभिज्ञोऽसि हिंसाणुव्रतलक्षणे ।
सतृणाभ्यवहारित्वं भुंजानो द्विरदादिवत् ॥ १४५ ॥

---

१ ' स ' पुस्तके " यानि " इति पाठः ।

देशशब्दोऽत्र स्थूलार्थे तथा भावाद्विवक्षितः।
कारणात्स्थूलहिंसादेस्त्यागस्यैवात्र दर्शनात् ॥ १२३ ॥
स्थूलत्वमादेयं स्थूलत्रसरक्षादिगोचरम्।
अतिचाराविनाभूतं सातिचारं च मात्रशम् ॥ १२४ ॥
तद्यथा यो निवृत्तः स्याद्यावत्त्रसवधादिह।
न निवृत्तस्तथा पंचस्थावरहिंसया गृही ॥ १२५ ॥
विरताविरताख्यः स स्यादेकस्मिन्ननेहसि।
लक्षणात्त्रसहिंसायास्त्यागेऽणुव्रतधारकः ॥ १२६ ॥

उक्तं च।

जो तसवहाउविरओ अविरओ तह थावर वहाओ।
एकसमयम्हि जीवो विरदाविरदो जिणेकमई ॥
अत्र तात्पर्यमेवैतत्सर्वारम्भेण श्रूयताम्।
त्रसकायवधाय स्यात्क्रिया त्याज्या हितार्थिना ॥ १२७ ॥
क्रियायां यत्र विख्यातस्त्रसकायवधो महान्।
तां तां क्रियामवश्यं स सर्वामपि परित्यजेत् ॥ १२८ ॥
अत्राप्याशङ्कते कश्चिदात्मप्रज्ञापराधतः।
कुर्याद्धिंसां स्वकार्याय न कार्या स्थावरक्षतिः ॥ १२९ ॥
अयं तेषां विकल्पो यः स्याद्वा कपोलकल्पनात्।
अर्थाभासस्य भ्रान्तेर्वा नैवं सूत्रार्थदर्शनात् ॥ १३० ॥
तद्यथा सिद्धसूत्रार्थे दर्शितं पूर्वसूरिभिः।
सत्रार्थोयं विना कार्यं न कार्या स्थावरक्षतिः ॥ १३१ ॥
एतत्सूत्र विशेषार्थेऽनवदत्तायथानकैः।
नूनं तैः स्खलितं मोहात्समसामान्यसङ्ग्रहात् ॥ १३२ ॥
किञ्च कार्यं विना, हिंसां न कुर्यादितिधीमता।
दृष्टेस्तुर्यगुणस्थाने कृतार्थत्वाद्दृगात्मनः ॥ १३३ ॥
तदुक्तं गोम्मटसारे सिद्धान्ते सिद्धसाधने।
तत्सूत्रं च यथाम्नायात्प्रतीत्यै वच्मिसाम्प्रतम् ॥ १३४ ॥

उक्तं च ।

सम्माइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं तु सद्दहदि ।
सद्दहदि असब्भावं अजाणमाणो गुरुणियोगा ॥
अत्र सूत्रे चकारस्य प्रदर्शं विदधे स्फुटम् ।
गाथार्थटीकाकारेण टीकायां प्रकटीकृतः ॥ १३५ ॥
टीका व्याख्या यथा कश्चिज्जीवो यः सम्यग्दृष्टिमान् ।
उपदिष्टं प्रवचनं जिनोक्तं श्रद्दधाति सः ॥ १३६ ॥
पदार्थमप्यादेव न कुर्यात्क्रमसद्गमनम् ।
विना कार्यं कृपार्द्रत्वात्प्रशमादिगुणान्वितः ॥ १३७ ॥
एवमित्यत्र विख्यातं कथितं च जिनागमे ।
स पदार्थो यदत्रापि प्रतिलं हि कुर्योऽर्थतः ॥ १३८ ॥
सत्यप्रमगुणस्थाने हिंसायाः प्रनभिज्ञता ।
त्रसवधपदार्थं या क्रिया त्याज्यागिस्यपि च ॥ १३९ ॥
ननु जलानलोर्व्यमसङ्गतम्पनिवेषु च ।
प्रवृत्तौ नत्रिपुणाकृता प्रमातो यत्र का कथा ॥ १४० ॥
नैव दोषोऽल्पदोषत्वात्तदा सङ्कधियेषनाम् ।
निष्प्रमादतया यत्र रक्षणे यत्नतत्पराम् ॥ १४१ ॥
एवं चेत्तर्हि कृष्यादौ को दोषस्तुल्यकारणात् ।
अशक्यपरिहारस्य तद्वत्तत्रापि सम्भवात् ॥ १४२ ॥
अपि तत्रात्मनिन्दादिभावस्यावश्यभावतः ।
प्रमत्तयोगाद्यभावस्य यथार्थं सम्भवादपि ॥ १४३ ॥
जलादावपि विख्याताश्रसाः सन्त्युपलब्धितः ।
कृष्यादौ च त्रसाः सन्ति विख्याता क्षितिमण्डले ॥ १४४ ॥
नैवं यतोऽनभिज्ञोऽसि हिंसाणुव्रतलक्षणे ।
सतृणाभ्यवहारित्वं भुञ्जानो द्विरदादिवत् ॥ १४५ ॥

१ ' स ' पुस्तके " सन्ति " इति पाठः ।

देशशब्दोऽत्र स्थूलार्थे तथा भागाद्विवक्षितः ।
कारणात्स्थूलहिंसादेस्त्यागस्यैवात्र दर्शनात् ॥ १२३ ॥
स्थूलत्वमादेवं स्थूलत्रसरक्षादिगोचरम् ।
अतिचारविनाभूतं सातिचारं च मात्रवम् ॥ १२४ ॥
तद्यथा यो निवृत्तः स्यान्नावत्त्रसवधादितः ।
न निवृत्तस्तथा पंचस्थावरहिंसया गृही ॥ १२५ ॥
विरताविरताख्यः स स्यादेकस्मिन्ननेहसि ।
लक्षणात्त्रसहिंसायास्त्यागेऽणुव्रतधारकः ॥ १२६ ॥
उक्तं च ।
जो तसवहाउविरओ अविरओ तह थावर वहाओ ।
एकसमयम्हि जीवो विरदाविरदो जिणेकमई ॥
अत्र तात्पर्यमेवैतत्सर्वारम्भेण श्रूयताम् ।
त्रसकायवधाय स्यात्किया त्याज्या हिंसावती ॥ १२७ ॥
क्रियायां यत्र विख्यातस्त्रसकायवधो महान् ।
तां तां क्रियामवश्यं स सर्वामपि परित्यजेत् ॥ १२८ ॥
अत्राप्याशङ्कते कश्चिदात्मप्रज्ञापराधतः ।
कुर्याद्धिंसां स्वकार्याय न कार्या स्थावरक्षतिः ॥ १२९ ॥
अयं तेषां विकल्पो यः स्याद्वा कपोलकल्पनात् ।
अर्थाभासस्य भ्रान्तेर्वा नैवं सूत्रार्थदर्शनात् ॥ १३० ॥
तद्यथा सिद्धसूत्रार्थे दर्शितं पूर्वसूरिभिः ।
तत्रार्थोयं विना कार्यं न कार्या स्थावरक्षतिः ॥ १३१ ॥
एतत्सूत्र विशेपार्थेऽनवदत्तावधानकैः ।
नूनं तैः स्खलितं मोहात्सर्वसामान्यसङ्ग्रहात् ॥ १३२ ॥
किञ्च कार्यं विना, हिंसां न कुर्यादितिधीमता ।
दृष्टेस्तुर्यगुणस्थाने कृतार्थत्वाद्दृगात्मनः ॥ १३३ ॥
यदुक्तं गोम्मटसारे सिद्धान्ते सिद्धसाधने ।
तत्सूत्रं च यथाम्नायात्प्रतीयै वच्मिसाम्प्रतम् ॥ १३४ ॥

उक्तं च ।

सम्मादिट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं च सद्दहदि ।
सद्दहदि असब्भावं अजाणमाणो गुरुणियोगा ॥
अत्र सूत्रे चकारस्य पदार्थो विदितः स्फुटम् ।
गोम्मटसारटीकाकारेण टीकायां प्रकटीकृतः ॥ १३५ ॥
टीका व्याख्या यथा सम्यग्दृष्टिर्जीवो यः सम्यग्दृष्टिमान् ।
उपदिष्टं प्रवचनं जिनोक्तं श्रद्दधाति स ॥ १३६ ॥
चकारग्रहणाच्चैव न कुर्यात्प्रमादितम् ।
विना कार्यं स्पष्टत्वात्प्रशमादिगुणान्वितः ॥ १३७ ॥
एवमित्यत्र विख्यातं कथितं च जिनागमे ।
स एवार्थो यतोऽत्रापि प्रतिवं हि इतोऽर्थतः ॥ १३८ ॥
तत्प्रमत्तगुणस्थाने हिंसात्र प्रतिषिद्धता ।
प्रमत्ताद्यवधार्थं वा क्रिया त्वावश्यकीत्यपि च ॥ १३९ ॥
ननु जलानलोर्व्यप्रमहलव्यनिलेषु च ।
प्रवृत्तौ सचित्ताक्रान्ता प्रमाणां तत्र का कथा ॥ १४० ॥
नैव दोषोऽल्पदोषत्वाग्रहा सावद्यविवेचनात् ।
निष्प्रमादतया तत्र रक्षणे यत्नतत्परात् ॥ १४१ ॥
एवं चेत्तर्हि कृष्यादौ को दोषस्तुल्यकारणात् ।
अनाक्रयपरिहारस्य तदत्रापि सम्भवात् ॥ १४२ ॥
अपि तत्रात्मनिन्दादिभावस्याप्यनयभावतः ।
प्रमत्तयोगाप्रभावस्य यथार्थं सम्भवादपि ॥ १४३ ॥
जलादावपि विख्याताश्चसाः सन्त्युपलक्षितः ।
कृष्यादौ च त्रसा सन्ति विख्याता क्षितिमण्डले ॥ १४४ ॥
नैव यतोऽनभिसंधि हिंसाणुव्रतलक्षणं ।
सतृणाभ्यवहारित्वं भुंजानो द्विरदादिवत् ॥ १४५ ॥

१ 'स' पुस्तके " यतीभि " इति पाठः ।

उक्तं च ।

सम्माइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं च सद्दहदि ।
सद्दहदि असब्भावं अजाणमाणो गुरुणियोगा ॥
अत्र सूत्रे चकारस्य ग्रहणं विद्यते स्फुटम् ।
सत्यार्थटीकाकारेण टीकायां प्रकटीकृतः ॥ १३५ ॥
टीका व्याख्या यथा कश्चिज्जीवो यः सम्यग्दृष्टिमान् ।
उपदिष्टं प्रवचनं जिनोक्तं श्रद्दधाति सः ॥ १३६ ॥
चकारग्रहणादेव न कुर्यात्त्रसहिंसनम् ।
विना कार्यं कृपावत्त्वात्प्रशमादिगुणान्वितः ॥ १३७ ॥
एवमित्यत्र विख्यातं कथितं च जिनागमे ।
स एवार्थो यद्यत्रापि प्रतित्वं हि कुतोऽर्थतः ॥ १३८ ॥
सत्यपञ्चमगुणस्थाने दिग्मात्रं व्रतमिच्छता ।
त्रसकायवधार्थं या क्रिया त्याज्याखिलापि च ॥ १३९ ॥
ननु जलानलोर्व्यत्रसहननस्थानिकेषु च ।
प्रवृत्तौ तच्छ्रिताङ्गानां त्रसानां तत्र का कथा ॥ १४० ॥
नैष दोषोऽल्पदोषत्वाद्यद्वा शक्यविवेचनात् ।
निष्प्रमादतया तत्र रक्षणे यत्नतत्परात् ॥ १४१ ॥
एवं चेत्तर्हि कृष्यादौ को दोषस्तुल्यकारणात् ।
अशक्यपरिहारस्य तद्वत्तत्रापि सम्भवात् ॥ १४२ ॥
अपि तत्रात्मनिन्दादिभावस्यावश्यभावतः ।
प्रमत्तयोगाद्यभावस्य यथास्वं सम्भवादपि ॥ १४३ ॥
जलादावपि विख्यातास्त्रसाः सन्त्युपलब्धितः ।
कृष्यादौ च त्रसाः सन्ति विख्याता क्षितिमण्डले ॥ १४४
नैवं यतोऽनभिज्ञोऽसि हिंसाणुव्रतलक्षणे ।
सतृणाभ्यवहारित्वं भुञ्जानो द्विरदादिवत् ॥ १४५ ॥

१ ' स ' पुस्तके " चापि " इति पाठः ।

वक्ष्यहं लक्षणं तस्य सावधानतया शृणु ।
क्षणं प्रमादमुत्सृज्य गर्हितावद्यकारणम् ॥ १४६ ॥
अणुत्वमल्पीकरणं तच्च गृद्धेरिहार्थतः ।
यथावद्यस्य हिंसादेर्दृष्टपोकविषयस्य च ॥ १४७ ॥
कृष्यादयो महारम्भाः क्रूरकर्मार्जनक्षमाः ।
तत्क्रियानिरतो जीवः कुतो हिंसावकाशवान् ॥ १४८ ॥
नचाशङ्क्यं हि कृष्यादिमहारम्भे क्रिया तु या ।
तत्स्वल्पीकरणं चार्थाद्धिंसाणुव्रतमिष्यते ॥ १४९ ॥
यतः स्वल्पीकृतोप्यत्र महारम्भः प्रवर्तते ।
महावद्यस्य हेतुत्वात्तद्वान्नाणुव्रती भवेत् ॥ १५० ॥
अलं वा बहुनोक्तेन यावदूक्तयाप्यलम् ।
त्रसहिंसाक्रिया त्याज्या हिंसाणुव्रतधारिणा ॥ १५१ ॥
ननु त्यक्तुमशक्यस्य महारम्भानशेषतः ।
इच्छतः स्वल्पीकरणं कृष्यादेस्तस्य का गतिः ॥ १५२ ॥
अस्ति सम्यग्गतिस्तस्य साधु साधीयसी जिनैः ।
कार्या पुण्यफलाऽशाख्या क्रियामुत्रेह सौख्यदा ॥ १५३ ॥
यथाशक्ति महारम्भात्स्वल्पीकरणमुत्तमम् ।
विलम्बो न क्षणं कार्यो नात्र कार्या विचारणा ॥ १५४ ॥
हेतुरस्त्यत्र पापस्य कर्मणः संवरांशतः ।
न्यायागतः प्रवाहश्च न केनापि निवार्यते ॥ १५५ ॥
साधितं फलवन्न्यायात्प्रमाणितं जिनागमात् ।
युक्तेः स्वानुभवाच्चापि कर्तव्यं प्रकृतं महत् ॥ १५६ ॥
तत्रागमो यथा सूत्रादाप्तवाक्यं प्रकीर्तितम् ।
पूर्वापराविरुद्धं यत्प्रत्यक्षाद्यैरबाधितम् ॥ १५७ ॥

उक्तं च ।

यथार्थदर्शिनः पुंसो यथादृष्टार्थवादिनः ।
उपदेशः परार्थो यः स इहागम उच्यते ॥

आगमः स यथा द्वेधा हिंसादेरपकर्षणम् ।
यमादेकं द्वितीयं तु नियमादेव केवलात् ॥ १५८ ॥
यमस्तत्र यथा यावज्जीवनं प्रतिपालनम् ।
दैवाद्घोरोपसर्गेपि दुःखे वामरणावधि ॥ १५९ ॥
यमोपि द्विविधो ज्ञेयः प्रथमं प्रतिमान्वितः ।
अन्यः सामान्यमात्रत्वात्स्पष्टं तल्लक्षणं यथा ॥ १६० ॥
यावज्जीवं त्रसानां हि हिंसादेरपकर्षणम् ।
सर्वतस्तत्क्रियायाश्चेत्प्रतिमारूपमुच्यते ॥ १६१ ॥
अथसामान्यरूपं तद्यदल्पीकरणं मनाक् ।
यावज्जीवनमप्येतद्देशतो न (तु) सर्वतः ॥ १६२ ॥
आह कृषीवलः कश्चिद्द्विशतं न च कर्म्यहम् ।
शतमात्रं करिष्यामि प्रतिमास्य न कापि सा ॥ १६३ ॥
नियमोपि द्विधा ज्ञेयः सावधिर्जीवनावधिः ।
त्रसहिंसाक्रियायाश्च यथाशक्त्यपकर्षणम् ॥ १६४ ॥
सावधिः स्वायुषोयावदर्वागेव व्रतावधिः ।
ऊर्ध्वं यथात्मसामर्थ्यं कुर्याद्वा न यथेच्छया ॥ १६५ ॥
पुनः कुर्यात्पुनस्त्यक्त्वा पुनः कृत्वा पुनस्त्यजेत् ।
न त्यजेद्वा न कुर्याद्वा कारं कारं करोति च ॥ १६६ ॥
अस्ति कश्चिद्विशेषोपि द्वयोर्यमनियमयोः ।
नियमो दक्प्रतिमायां व्रतस्थाने यमो मतः ॥ १६७ ॥
अयं भावो व्रतस्थाने या क्रियाभिमता सताम् ।
तां सामान्यतः कुर्वन्सामान्ययम उच्यते ॥ १६८ ॥
प्रतिमायां क्रियायां तु प्रागेवात्रापि सूचिता ।
यावज्जीवं हि तां कुर्वन्नियमोऽनवधिः स्मृतः ॥ १६९ ॥

---

१ " दुःखे वा " इति क पुस्तके पाठः ।

उक्तं सम्यक् परिज्ञाय गृहस्थो व्रतमाचरेत् ।
यथाशक्ति यथाकालं यथादेशं यथावयः ॥ १७० ॥
त्रसहिंसाक्रियात्यागो यदि कर्तुं न शक्यते ।
व्रतस्थानामहेणालं दर्शनेनैव पूर्यताम् १७१ ॥
व्रतस्थानक्रियां कर्तुमशक्योपि यदीच्छति ।
व्रतंमन्योपि संमोहादव्रतामामोस्मि न व्रती ॥ १७२ ॥
अलं कोलाहलेनालं कर्तव्याः श्रेयसः क्रियाः ।
फलमेव हि साध्यं स्यात्सर्वारम्भेण धीमता ॥ १७३ ॥
त्रसहिंसाक्रियात्यागशब्दः स्यादुपलक्षणम् ।
तेन भूकायिकादींश्च निःशङ्कं नोपमर्दयेत् ॥ १७४ ॥
किन्तु चैकाक्षजीवेषु भूजलादिषु पञ्चसु ।
अहिंसाव्रतशुद्ध्यर्थं कर्तव्यो यत्नो महान् ॥ १७५ ॥
त्रसहिंसाक्रियात्यागी महारम्भं परित्यजेत् ।
नारकाणां गतेर्बीजं नूनं तद्दुःखकारणम् ॥ १७६ ॥

उक्तं च ।

मिच्छो हु महारंभो निस्सीलो तिव्वलोहसंजुत्तो ।
निरयाउगं णिबंधइ पावमयी रुद्दपरिणामो ॥
क्रूरं कृष्यादिकं कर्म सर्वतोपि न कारयेत् ।
वाणिज्यार्थं विदेशेषु शकटादि न प्रेषयेत् ॥ १७७ ॥
क्रयविक्रयवाणिज्ये क्रयेद्वस्तु त्रसोज्झितम् ।
विक्रयेद्वा तथा वस्तु नूनं सावद्यवर्जितम् ॥ १७८ ॥
वाणिज्यार्थं न कर्तव्योऽतिकाले धान्यसंग्रहः ।
घृततैलगुडादीनां भाण्डागारं न कारयेत् ॥ १७९ ॥
लाक्षालोष्टक्षणक्षारशस्त्रचर्मादिकर्मणाम् ।
हस्त्यश्वनृपादीनां चतुष्पदानां च यावताम् ॥ १८० ॥
द्विपदानां च वाणिज्यं न कुर्याद्व्रतवानिह ।
महारम्भो भवत्येव पशुपास्यादिकर्मणि ॥ १८१ ॥

शुककुक्कुरमार्जारीकपिसिंहमृगादयः ।
न रक्षणीयाः स्वामित्वे महाहिंसाकरा यतः ॥ १८२ ॥
इत्यादिकाश्च यावन्त्य क्रियास्त्रसघातिकाः ।
न कर्तव्यास्त्रसानां हि हिंसाणुव्रतधारिभिः ॥ १८३ ॥
सर्वसागारधर्मेषु देशशब्दोऽनुवर्तते ।
तेनानगारयोग्यास्ताः कर्तव्यास्ता अपि क्रियाः ॥ १८४ ॥
यथा समितयः पञ्च सन्ति तिस्रश्च गुप्तयः ।
अहिंसाव्रतरक्षार्थं कर्तव्या देशतोऽपि ते ॥ १८५ ॥
उक्तं तत्त्वार्थसूत्रेषु यत्तत्रावसरे यथा ।
व्रतस्थैर्याय कर्तव्या भावना पञ्च पञ्च च ॥ १८६ ॥

तत्सूत्रं यथा—" तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पञ्च पञ्च " तत्रापि हिंसात्यागव्रतरक्षार्थं—" वाग्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपसमित्यालोकितपानभोजनानि पञ्च "

नचाशङ्क्यमिमाः पञ्च भावना मुनिगोचराः ।
न पुनर्भावनीयास्ता देशतो व्रतधारिभिः ॥ १८७ ॥
यतोऽत्र देशशब्दो हि सामान्यादनुवर्तते ।
ततोऽणुव्रतसंज्ञेषु व्रतत्वाद्व्याप्यापको भवेत् ॥ १८८ ॥
अलं विकल्पसंकल्पैः कर्तव्या भावना इमाः ।
अहिंसाव्रतरक्षार्थं देशतोऽणुव्रतादिवत् ॥ १८९ ॥
तत्र वाग्गुप्तिरित्युक्ता त्रसबाधाकरं वचः ।
न वक्तव्यं प्रमादाद्वा वधबन्धादिसूचकम् ॥ १९० ॥
अवश्यंभाविकार्येऽपि वक्तव्यं सकृदेव तत् ।
धर्मकार्येषु वक्तव्यं यद्वा मौनं समाश्रयेत् ॥ १९१ ॥
मनोगुप्तिर्यथानाम त्रसच्छेदे न चिन्तयेत् ।
समुत्पन्नेऽपि सत्कार्ये जने वा सापराधिनि ॥ १९२ ॥
सद्मग्रामादिविधौ चिन्तां न कुर्यान्नैष्ठिको व्रती ।
अव्रती पाक्षिकः कुर्यादैवयोगात्कदाचन ॥ १९३ ॥

नैष्ठिकोऽपि यदा क्रोधान्मोहाद्वा सङ्करक्रियाम् ।
कुर्यात्तावतिकाले स भवेद्दासमव्रताच्च्युतः ॥ १९४ ॥
त्रसहिंसाक्रियायां वा नापि व्यापारयेन्मनः ।
मोहाद्वापि प्रमादाद्वा स्वामिकार्यकृतेऽपि वा ॥ १९५ ॥
वीतरागोक्तधर्मेषु हिंसायद्यं न वर्तते ।
रूढिधर्मादिकार्येषु न कुर्यात्त्रसहिंसनम् ॥ १९६ ॥
रूढिधर्मे निषिद्धा चेत्कामार्थयोस्तु का कथा ।
मज्जन्ति द्विरदा यत्र मशकास्तत्र किं पुनः ॥ १९७ ॥
हृषीकार्थादिदुर्ध्यानं वञ्चनार्थं स नैष्ठिकः ।
चिन्तयेत्परमात्मानं स्वं शुद्धं चिन्मयं महः ॥ १९८ ॥
यद्वा पञ्चपरमेष्ठिस्वरूपं चिन्तयेन्मुहुः ।
यद्वा त्रैलोक्यसंस्थानं जीवांस्तद्वर्तिनोऽथवा ॥ १९९ ॥
जगत्कायस्वभावौ वा चिन्तयेत्तान्मुहुर्मुहुः ।
द्वादशाप्यनुप्रेक्षाः धारयेन्मनसि ध्रुवम् ॥ २०० ॥
यद्वा दृष्टिपरानत्र जिनबिम्बांश्च चिन्तयेत् ।
मुनीन् देवालयांश्चापि तत्पूजादिविधीनपि ॥ २०१ ॥
इत्याद्यालम्बनांश्चित्ते भावयेद्भावशुद्धये ।
न भावयेत्कदाचिद्वै त्रसहिंसां क्रियां प्रति ॥ २०२ ॥
उक्ता वाग्गुप्तिरत्रैव मनोगुप्तिस्तथैव च ।
अधुना कायगुप्तेश्च भेदान् सूत्रानतिक्रमम् ॥ २०३ ॥
अत्रेर्यादाननिक्षेपभावना कायसंश्रिताः ।
भावनीयाः सदाचारैराजवंजवविच्छिदे ॥ २०४ ॥
अत्रेर्यावचनं यावद्धर्मोपकरणं मतम् ।
तस्यादानं च निक्षेपं समासात्तत्तथा स्मृतः ॥ २०५ ॥
धर्मार्थौ मुनिमार्गेऽत्र पिच्छिका च कमण्डलुः ।
वस्त्राभरणैश्च: पूजोपकरणानि च ॥ २०६ ॥

पञ्चापापरदविरताम्य परग्रन्थमादिवाम् ।
स्नानादर्थं जलादींश्च धीमद्भक्षादिवानपि ॥ २०७ ॥
देशनायवशे सार्द्धं दानकाले तु भोजनम् ।
वाहनस्थादिकं शुद्धं काले स्वाध्यायिकेऽपि च ॥ २०८ ॥
इत्यादीनेक भेदानि धर्मोपकरणानि च ।
निःप्रमादतया तत्र कार्यौ यत्नौ सुधीर्यथा ॥ २०९ ॥
हस्तयो मस्तकस्थित्वादौ यत्न. प्रतिलेखनम् ।
समादाय समस्तत्र कार्यं स्थापनयोरपि ॥ २१० ॥
दीर्घपुनं यथास्थाने निक्षेपोऽपि यथा स्मृत ।
दृष्ट्वा स्थानादिकं शुद्धं तत्र तानि विनिक्षिपेत् ॥ २११ ॥
इत्थं समितयः पञ्च यत्यन्तं पातिविस्तरात् ।
मन्यतीरवर्णोऽन्यत्र मोक्षगताः संयमैर्षिताः ॥ २१२ ॥
संयतासंयतस्थाप्य मोक्षस्य गृहमेधिनः ।
समितयो या योग्याः स्युर्वर्ण्यन्ते ता. क्रमादपि ॥ २१३ ॥
ईर्यासमितिरप्यत्र कर्तव्या गृहमेधिना ।
अथैषामाद्या वाच्यास्मिन् यातोऽपि मतिगोचरा ॥ २१४ ॥
दृष्ट्वा दृष्ट्वा शनैः सम्यग्युगदघ्नां धरां पुर ।
निष्प्रमादो गृही गच्छेदीर्यासमितिरुच्यते ॥ २१५ ॥
किञ्च तत्र विवेकोऽस्ति विधेयश्चमनश्चके ।
चतुष्पथादिके मार्गे न गन्तव्यं कदाचन ॥ २१६ ॥
तत्र विचार्यं प्रागेव देशकालगतिर्यथा ।
मनुष्याः साधवो यत्रा यत्नमार्गावलोकिनः ॥ २१७ ॥
निश्चित्य प्रासुकं मार्गं बहुजनैर्जनाश्रितम् ।
ईर्यासमितिसंशुद्धस्तत्र गच्छेन्नचान्यथा ॥ २१८ ॥
गच्छंस्तत्रापि दैवाच्चेत् सुप्रमार्गं समाकुलः ।
तदा क्षमापणं कुर्यात् कुर्याद्वा वीरकर्मजम् ॥ २१९ ॥

वीरकर्म यथा तत्र पर्यङ्कायासनेन वा ।
कायोत्सर्गेण वा तिष्ठेद्योगिवद्योगमार्गवित् ॥ २२० ॥
यावत्तस्योपसर्गस्य निवृत्तिर्वा वपुःक्षतिः ।
यद्वावधिर्यथाकालं नीत्वाऽस्तीतस्ततो गतिः ॥ २२१ ॥
सर्वारम्भेण तात्पर्यं प्रत्यक्षात्त्रससङ्कुले ।
मार्गे पादौ न क्षेप्तव्यौ व्रतिनां मरणावधि ॥ २२२ ॥
किञ्च रजन्यां गमनं न कर्तव्यं दीर्घध्वनि ।
दृष्टिपूते शुद्धे स्वल्पे न निषिद्धा मार्गगतिः ॥ २२३ ॥
अश्वाद्यारोहणं मार्गे न कार्यं व्रतधारिणा ।
ईर्यासमितिसंशुद्धिः कुतःस्यात्तत्र कर्मणि ॥ २२४ ॥
इतीर्यासमितिः प्रोक्ता संक्षेपाद्व्रतधारिणः ।
यद्वोपासकाध्ययनात् ज्ञातव्यातीर्थविस्तरात् ॥ २२५ ॥
अप्यस्ति भाषासमितिः कर्तव्या मद्वासिभिः ।
अवश्यं देशमात्रत्वात्सर्वथा मुनिकुञ्जरैः ॥ २२६ ॥
वचो धर्माश्रितं वाच्यं वरं मौनमथाश्रयेत् ।
हिंसाश्रितं न तद्वाच्यं भाषासमितिरिष्यते ॥ २२७ ॥
इतिसंक्षेपतस्तस्या लक्षणं चात्र सूचितम् ।
मृषात्यागव्रतास्थाने वक्ष्यामीषत्सविस्तरात् ॥ २२८ ॥
एषणासमितिः कार्या श्रावकैर्धर्मवेदिभिः ।
यया सागारधर्मस्य स्थितिर्मुनिव्रतस्य च ॥ २२९ ॥
यतो व्रतसमूहस्य शरीरं मूलसाधनम् ।
आहारस्तस्य मूलं स्यादेषणासमितावमौ ॥ २३० ॥
एषणासमितिर्नाम्ना संक्षेपाल्लक्षणादपि ।
आहारशुद्धिराख्याता सर्वव्रतविशुद्धये ॥ २३१ ॥
उक्तमांसातीचारैर्वर्जितो योऽशनादिकः ।
स एव शुद्धो नान्यस्तु मांसातीचारसंयुतः ॥ २३२ ॥

आमगोरससंपृक्तं द्विदलान्नं परित्यजेत् ।
लालायाःस्पर्शमात्रेण त्वरितं बहुमूर्च्छनात् ॥ २४५
भोज्यमध्याद्दशेषांश्च दृष्ट्वा त्रसकलेवरान् ।
यद्वा समूलतो रोम दृष्ट्वा सद्यो न भोजयेत् ॥ २४६
चर्मतोयादिसम्मिश्रात्सदोषमशनादिकम् ।
परिज्ञायेङ्गितैः सूक्ष्मैः कुर्यादाहारवर्जनम् ॥ २४७ ।
श्रवणाद्धिंसकं शब्दं मारयामीति शब्दवत् ।
दग्धो मृतः स इत्यादि श्रुत्वा भोज्यं परित्यजेत् ॥ २
शोकाश्रितं वच श्रुत्वा मोहाद्वा परिदेवनम् ।
दीनं भयानकं श्रुत्वा भोजनं त्वरितं त्यजेत् ॥ २४९
उपमानोपमेयाभ्यां तदिदं पिशितादिवत् ।
मनःस्मरणमात्रत्वात्कृत्स्नमन्नादिकं त्यजेत् ॥ २५० ।
सूतकं पातकं चापि यथोक्तं जैनशासने ।
एषणाशुद्धिसिद्ध्यर्थं वर्जयेच्छ्रावकाग्रणीः ॥ २५१ ॥
एषणासमितिःख्याता संक्षेपात्सारसंग्रहात् ।
तत्रान्तराद्विशेषश्चैज्ञातव्यास्ति सुविस्तरात् ॥ २५२ ।
अस्ति चादाननिक्षेपस्वरूपा समितिः स्फुटम् ।
वस्त्राभरणपात्रादिनिखिलोपधिगोचराः ॥ २५३ ॥
यावन्त्युपकरणानि गृहकर्मोचितानि च ।
तेषामादाननिक्षेपौ कर्तव्यौ प्रतिलेख्य च ॥ २५४ ॥
प्रतिष्ठापननाम्नी च विख्याता समितिर्यथा ।
अवद्यपुद्गलद्वारा मलमूत्रादिगोचरा ॥ २५५ ॥
निश्छिद्रं प्रासुकं स्थानं सर्वदोषविवर्जितम् ।
दृष्ट्वा प्रमार्ज्य सागारो वर्चोमूत्रादि निक्षिपेत् ॥ २५६
अस्ति चालोकितपानभोजनाख्याय पञ्च ताः ।
भावना भावनीया स्याद‍हिंसाव्रतहेतवे ॥ २५७ ॥

शुद्धं शोधितं चापि सिद्धं भक्ष्यादिभोजनम् ।
सावधानतया भूयो दृष्टिपूतं च भोजयेत् ॥ २५८ ॥
नवानभ्यवसायेन दोषेणानवधानतः ।
मया दृष्टचरं चैतन्मत्वा भोज्यं न भोजयेत् ॥ २५९ ॥
तत्र यद्यपि मत्त्यादि शुद्धमस्तीति निश्चितम् ।
तथापि दोष एव स्यात्प्रमादादिकृतो महान् ॥ २६० ॥
सन्ति पञ्चाप्यतीचारा पञ्च सूत्रेऽपि लक्षिताः ।
धर्माहिंसापरित्यागलक्षणेऽणुव्रताह्वये ॥ २६१ ॥
तत्सूत्रं यथा—वधबन्धच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः ।
अत्रोक्तं वधशब्देन ताडनं यष्टिकादिभिः ।
प्रागेव प्रतिषिद्धत्वात्प्राणिहत्या न श्रेयसी ॥ २६२ ॥
पशूनां गोमहिष्यादिछागवारणवाजिनाम् ।
तन्मात्रातिरिक्तं बाधां न कुर्याद्वा कशादिभिः २६३ ॥
बन्धो मात्राधिको गाढं दुःखदं शृंखलादिभिः ।
आततायी (?) प्रमादाद्वा न कुर्यात्श्रावकोत्तमः ॥ २६४ ॥
छेदो नासादिछिद्रार्थं काष्ठसूच्यादिभिः कृतः ।
तावन्मात्रातिरिक्तं तन्नविधेयं प्रतिमान्विते ॥ २६५ ॥
नापराधे मनुष्यादौ कर्णनासादि छेदनम् ।
न कुर्यात्कूपकल्पोऽपि व्रतवानपि कश्चन ॥ २६६ ॥
भारः काष्ठादिलोष्ठाश्मधूमतैलजलादिकम् ।
नेतुं क्षेत्रान्तरं क्षिप्तं मनुजाश्वशिविकादिषु ॥ २६७ ॥
यावद्यस्यास्ति सामर्थ्यं तावत्तत्रैव निक्षिपेत् ।
नातिरिक्तं ततः क्वापि निक्षिपेद् व्रतधारकः ॥ २६८ ॥
दासीदासादिभृत्यानां बन्धुमित्रादिप्राणिनाम् ।
सामर्थ्यातिक्रमः क्वापि कर्तव्यो न विचक्षणैः ॥ २६९ ॥
अन्नपाननिरोधाख्यो व्रतदोषोऽस्ति पञ्चमः ।
तिरश्चां वा नराणां वा गोचरः स स्मृतो यथा ॥ २७० ॥

नराणां गोमहिष्यादितिरश्चां वा प्रमादतः ।
तृणाग्न्यादिपातानां निरोधो व्रतदोषकृत् ॥ २७१ ॥
बहुप्रलपितेनालं ज्ञेयं तात्पर्यमात्रतः ।
सा क्रिया नैव कर्तव्या यया त्रसवधो भवेत् ॥ २७२ ॥
इत्युक्तमात्रदिग्मात्रं सागाराहंमणुव्रतम् ।
त्रसहिंसापरित्यागलक्षणं विश्वसाक्षिभिः ॥ २७३ ॥

इति श्रीस्याद्वादानवद्यगद्यपद्यविद्याविशारद विद्वन्मणिराजमल्ल विरचितायां श्रावकाचारापरनाम लाटीसंहितायां साधुश्री दूदात्मज फामन मनःसरोजारविन्दविकाशनैक-मार्तण्डमण्डलायमानायां त्रसहिंसापरित्याग प्रथमाणुव्रत वर्णनो नाम पञ्चमः सर्गः ।

अथ षष्ठः सर्गः ।

त्रसहिंसापरित्यागलक्षणं यदणुव्रतम् ।
साधुदूदाङ्गजोऽरामफामनाख्यं पुनातु तत् ॥ १ ॥

इत्याशीर्वादः ।

अथ मृषापरित्यागलक्षणं व्रतमुच्यते ।
सर्वतस्तन्मुनीनां स्याद्देशतो वेश्मधामिनाम् ॥ १ ॥
माद्या यत्रानुवृत्तिः सा प्राग्वदत्रापि धीधनैः ।
प्रोक्तमसदभिधानमनृतं मृषकारकैः ॥ २ ॥
असदिति हिंसाकर्माभिधानं स्यात्कारणम् ।
शब्दानामनेकार्थत्वाद्वा निश्चयार्थानुसारिणी ॥ ३ ॥
नात्रासदिति शब्देन मृषामात्रं समस्यते ।
साकारमन्त्रभेदादौ सूत्रमत्रानुवर्तते ॥ ४ ॥
देशतो विरतिरत्र सूत्रमित्यनुवर्तते ।
त्रसबाधाकरं तस्मात्तथा वाच्यं न धीमता ॥ ५ ॥

सत्यमप्यसत्यतां याति कश्चिद्धिंसानुबन्धतः ।
सर्वतस्तन्न वक्तव्यं यथा चौरादिदर्शनम् ॥ ६ ॥
असत्यं सत्यतां याति कश्चिज्जीवस्य रक्षणात् ।
अचक्षुषा मया चौरो न दृष्टोऽस्ति यथाध्वनि ॥ ७ ॥
तत्रासत्यवचस्त्यागव्रतरक्षार्थमेव याः ।
भावनाः पञ्च सूत्रोक्ताः भावनीया व्रतार्थिभिः ॥ ८ ॥

तत्सूत्रं यथा— क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च पञ्च ।

यत्र क्रोधप्रत्याख्यानं वचो वाच्यं मनीषिभिः ।
स्वपराश्रितभेदेन तद्वचश्च द्विधोच्यते ॥ ९ ॥
स्वयं क्रोधेन सत्यं वा न वक्तव्यं कदाचन ।
न च वाच्यं वचस्तद्वत्परेषां क्रोधकारणम् ॥ १० ॥
यथा क्रोधस्तथा मानं माया लोभस्तथैव च ।
तेषामवद्यहेतुत्वे मृषावादाविशेषतः ॥ ११ ॥
हास्योज्झितं च वक्तव्यं न च हास्याश्रितं क्वचित् ।
तदपि द्विविधं ज्ञेयं स्वपरोभयभेदतः ॥ १२ ॥
स्वयं हास्यवता भूत्वा न वक्तव्यं प्रमादतः ।
न च वाच्यं परेषां वा हास्यहेतुर्विचक्षणैः ॥ १३ ॥
हास्योपलक्षणेनैव नोकषाया भवन्ति ये ।
तेऽपि त्याज्या मृषात्यागव्रतसंरक्षणार्थिभिः ॥ १४ ॥
भीरुत्वोत्पादकं रौद्रं वचो वाच्यं न श्रावकैः ।
अवश्यं बन्धहेतुत्वात्तीव्रासातादिकर्मणाम् ॥ १५ ॥
आलोचितं च वक्तव्यं न वाच्यमनालोचितम् ।
चौर्यादिविकथाख्यानं न वाच्यं पापभीरुणा ॥ १६ ॥

---

१ सत्यमसत्यतां याति ।

अत्रासत्यपरित्यागव्रतेऽतीचारपञ्चकम् ।
प्रामाणिकं प्रसिद्धं स्यात्सूत्रेप्युक्तं महर्षिभिः ॥ १७ ॥

तत्सूत्रं यथा–मिथ्योपदेशरहोभ्याख्यान कूटलेखक्रियान्या
हारसाकारमन्त्रभेदाः ।

तत्र मिथ्योपदेशाख्यः परेषां प्रेरणं यथा ।
अहमेवं न वक्ष्यामि यद् त्वं मम मन्मनात् ॥ १८ ॥
रहोभ्याख्यानमेकान्ते गुह्यवार्ताप्रकाशनम् ।
परेषां शङ्कया किञ्चिद्धेतोरस्त्यत्र कारणम् ॥ १९ ॥
कूटलेखक्रिया सा स्याद्वंचनार्थं लिपिर्मृषा ।
सा न साक्षात्तथा तस्या मृषानाचारसम्भवात् ॥ २० ॥
किन्तु स्वल्पा यथा कश्चित्किञ्चिदत्यूहनिस्पृहः ।
इदं मदीयपत्रेषु मदर्थे न लिपीकृतम् ॥ २१ ॥
न्यासन्यास्यपहारो यो न्यासापहार उच्यते ।
सोऽपि परस्य सर्वस्वहरो नैव स्वलक्षणात् ॥ २२ ॥
किञ्च कश्चित्तथा सार्थः कस्यचिद्धनिनो गृहे ।
स्थापयित्वाधनादीनि स्वयं स्थानान्तरं गतः ॥ २३ ॥
पश्चात्तेन स लोकानां पुरस्तादिह निन्हवात् ।
धृतं न मे गृहे किञ्चित्तेनाऽस्माऽर्थेन गच्छता ॥ २४ ॥
इत्थं न्यासापहारः स प्रसिद्धोऽनर्थसूचकः ।
मृषात्यागव्रतस्यैषः दोषः स्यात्सर्वतोमहान् ॥ २५ ॥
साकारमन्त्रभेदोऽपि दोषोतीचारसंज्ञकः ।
न कर्तव्य कदाचिद्वै नैष्ठिकैः श्रावकोत्तमैः ॥ २६ ॥
दुर्लक्ष्यमर्थं गुह्यं यत्परेषां मनसि स्थितम् ।
कथंचिदिङ्गितैर्ज्ञात्वा न प्रकाश्यं व्रतार्थिभिः ॥ २७ ॥
ननु चैवं मदीयोऽयं ग्रामो देशोऽथवा नरः ।
इत्येवं यज्जगन्मर्त्ये परस्येतन्मृषा वचः ॥ २८ ॥

मैवं प्रमत्तयोगादि सूत्रादित्यनुवर्तते।
तस्याभावाश्च दोषोऽस्ति तद्भावे दोष एव हि ॥ २९ ॥
एवं संव्यवहाराय स्याददोषो नयात्मके।
नाम्नि च स्थापनायां च द्रव्ये भावे जगत्त्रये ॥ ३० ॥
अस्ति स्तेयपरित्यागो व्रतं चाणु तथा महत्।
देशतः सर्वतश्चापि त्यागद्वैविध्यसम्भवात् ॥ ३१ ॥
तल्लक्षणं यथा सूत्रे सूक्तं सूत्रविशारदैः।
अदत्तादानं स्तेयं स्यात्तदयं कथ्यतेऽधुना ॥ ३२ ॥
अदत्तस्य यदादानं चौर्यमित्युच्यते बुधैः।
अर्थात्स्वामिगृहीतार्थे यद्द्रव्ये नेतरे पुनः ॥ ३३ ॥
अन्यथा सर्वलोकस्मिन्नतिव्याप्तिः पदे पदे।
अनगारैश्च दुर्वारा विशद्भिर्गोपुरादिषु ॥ ३४ ॥
सर्वतः सर्वविषयं देशतस्तत्सगोचरम्।
यतो सागारिणां न स्यात्तद्वारिपरिवर्जनम् ॥ ३५ ॥
देशतःस्तेयसंत्यागलक्षणं गृहिणो व्रतम्।
अदत्तं वस्तु नादेयं यस्मिन्नस्ति तत्समाश्रयः ॥ ३६ ॥
रक्षार्थं तस्य कर्तव्या भावनाः पञ्च नित्यशः।
सर्वतो मुनिनाथेन देशतः श्रावकैरपि ॥ ३७ ॥

तत्सूत्रं यथा–शून्यागारविमोचितावास परोपरोधाकरणं शुद्धिमद्धर्माविसंवादाः पञ्च।

शून्यागारेषु चावासा भूभृतां गह्वरादयः।
तदिन्द्रादिविरोधेन न वास्तव्यमिहामुना ॥ ३८ ॥
किन्तु प्राक् प्रार्थनामित्थं कृत्वा तत्रापि संविशेत्।
प्रसीदात्रत्य भो देव! पंचरात्रं वसाम्यहम् ॥ ३९ ॥
निःस्वामित्वेन संत्यक्ताः गृहाः सन्त्युद्वसाह्वयाः।
प्रागवत्त्रापि वसतिं न कुर्यात्कुर्याद्वा तथा ॥ ४० ॥

स्वामित्वेन वसत्यादि परैः स्यादुपरुन्धितम् ।
परोपरोधाकरणमाहुः सूत्रविशारदाः ॥ ४१ ॥
तत्स्वामिनमनापृच्छ्य स्थातव्यं न गृहिव्रतैः ।
स्थातव्यं च तमापृच्छ्य दीयमाने तदाज्ञया ॥ ४२ ॥
भैक्ष्यशुद्ध्यविसंवादो भावनीयो व्रतार्थिना ।
सर्वतो मुनिनाथेन देशतो गृहमेधिना ॥ ४३ ॥
नादेयं केनचिद्दत्तमन्येनातत्स्वामिना ।
तत्स्वामिनश्च प्रच्छन्नवृत्त्या तस्यादत्तवत् ॥ ४४ ॥
आत्मधर्मा सधर्मा स्यादर्थाज्जैनो व्रतान्वितः ।
तेन कारापितं यावज्जिनचैत्यगृहादि यत् ॥ ४५ ॥
तत्रापि निवसेद्धीमान् क्षणं यावत्तदाज्ञया ।
तदाज्ञामन्तरेणेह न स्थातव्यमुपेक्षया ॥ ४६ ॥
भावनापञ्चकं यावदुक्तं चांशमात्रतः ।
स्वर्णांशमपि च नादेयमदत्तं वसनादि वा ॥ ४७ ॥
अत्रापि सन्त्यतीचाराः पञ्चेति सूत्रसम्मताः ।
त्याज्याः स्तेयपरित्यागव्रतसंशुद्धिहेतवे ॥ ४८ ॥

उक्तं च—" स्तेनप्रयोग तदाहृतादान विरुद्धराज्यातिक्रम हीनाधिकमानोन्मान प्रतिरूपक व्यवहाराः ।

परस्य प्रेरणं लोभात्स्तेयं प्रति मनीषिणा ।
स्तेनप्रयोग इत्युक्तः स्तेयातीचारसंज्ञकः ॥ ४९ ॥
अप्रेरितेन केनापि दस्युना स्वयमाहृतम् ।
गृह्णाति धनधान्यादि तदाहृतादानं स्मृतम् ॥ ५० ॥
नादेयं दीयमानं वा मूल्यदानेन चापि तत् ।
स्तेयत्यागव्रतस्यास्य स्वामिनात्महितैषिणा ॥ ५१ ॥
राजाज्ञादिनिमार्गोऽयं युक्तं वाऽयुक्तमेव तत् ।
क्रियते न यदा स स्याद्विरुद्धराज्यातिक्रमः ॥ ५२ ॥

कर्तव्यो न कदाचित्स प्रकृतव्रतधारिणा ।
आस्तामभुत्र तेनार्तिरिहानर्थपरंपरा ॥ ५३ ॥
क्रेतुं मानाधिकं मानं विक्रेतुं न्यूनमानकम् ।
हीनाधिकमानोन्माननामातीचारसंज्ञकः ॥ ५४ ॥
सर्वारम्भेण त्याज्योऽयं गृहस्थेन व्रतार्थिना ।
इहैवाकीर्तिसन्तानःस्यादमुत्र च दुःखदः ॥ ५५ ॥
निक्षेपणं समर्घस्य महार्घे वञ्चनाशया ।
प्रतिरूपकनामा स्याद् व्यवहारो व्रतक्षतौ ॥ ५६ ॥
स्तेयत्यागव्रतारूढैर्नेष्यः श्रावकोत्तमैः ।
अस्त्यतीचारसंज्ञोपि सर्वदोषाधिपो महान् ॥ ५७ ॥
उक्तातिचारनिर्मुक्तं तृतीयव्रतमुत्तमम् ।
अवश्यं प्रतिपाल्यं स्यात्परलोकसुखाप्तये ॥ ५८ ॥
चतुर्थं ब्रह्मचर्यं स्याद्व्रतं देवेन्द्रवन्दितम् ।
देशतः श्रावकैर्ग्राह्यं सर्वतो मुनिनायकैः ॥ ५९ ॥
देशतस्तद्व्रते धाम्नि स्थितस्यास्य सरागिणः ।
ऊढिता धर्मपत्नी या सैवसेव्या नचेतरा ॥ ६० ॥
ब्रह्मव्रतस्य रक्षार्थं कर्तव्याः पञ्चभावनाः ।
तल्लक्षणं यथा सूत्रे प्रोक्तमत्रापि चाहृतिः ॥ ६१ ॥

तत्सूत्रं यथा—स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहराङ्गनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरणवृष्येष्टरसस्वशरीरसंस्कारत्यागाः पञ्च ।

प्रसिद्धं विटपर्यादि दम्पत्योर्वा मिथो रतिः ।
अनुरागल्लतायां योषिद्रागकथाश्रुतिः ॥ ६२ ॥

उक्तं च ।

रतिरूपा तु या चेष्टा दम्पत्योः सानुरागयोः ।
शृंगारः स द्विधा प्रोक्तः संयोगो विप्रलम्भकः ॥
स त्याज्योऽपरदम्पत्योः सम्बन्धी बन्धकारणम् ।
प्रीतिः शृङ्गारसाकारो वार्या ब्रह्मचारिभिः ॥ ६३ ॥

चक्षुर्गण्डाधरग्रीवास्तनोदरनितम्बकान् ।
पश्येत्सन्मनोहराङ्गनिरीक्षणमत्यादरात् ॥ ६४ ॥
न कर्तव्यं सदङ्गानां भाषणं वा निरीक्षणम् ।
कायेन मनसा वाचा ब्रह्माणुव्रतधारिणा ॥ ६५ ॥
रतं मोहोदयात्पूर्वं सार्द्धमन्याङ्गनादिभिः ।
तत्स्मरणमतीचारं पूर्वरतानुस्मरणम् ॥ ६६ ॥
ब्रह्मचर्यव्रतस्यास्य दोषोऽयं सर्वतो महान् ।
त्याज्यो ब्रह्मचर्यांशुमालिना ब्रह्मचारिणा ॥ ६७ ॥
वृष्यमन्नं यथा माषा पयश्चेक्षुरसः स्मृतः ।
वीर्यवृद्धिकरं चान्यत्त्याज्यमित्यादि ब्रह्मणे ॥ ६८ ॥
स्नेहाभ्यङ्गादिस्नानानि माल्यं स्रक् चन्दनानि च ।
कुर्यात्तत्वर्थमात्रं चेद् ब्रह्मातीचारदोषकृत् ॥ ६९ ॥
स्वशरीरसंस्कारात्त्याज्यो दोषोऽयं ब्रह्मचारिणः ।
सर्वतो मुनिना त्याज्यो देशतो गृहमेधिभिः ॥ ७० ॥
भावना पञ्चनिर्दिष्टा सर्वतो मुनिगोचरा ।
ततानामिह गृहस्थानां वर्जनीयाः स्वशक्तितः ॥ ७१ ॥
सन्त्यन्येऽप्यतीचाराः ब्रह्मचर्यव्रतस्य ये ।
पञ्चैवेति यथा सूत्रे सूत्राः प्रत्याख्यानादिभिः ॥ ७२ ॥

उक्तं च—परविवाहकरणेत्वरिका परिगृहीतापरिगृहीतागमनानङ्ग-
क्रीडाकामतीव्राभिनिवेशाः ।

परविवाहकरणं दोषो ब्रह्मव्रतस्य च ।
स्पष्टो लोकप्रसिद्धत्वात्सुगमे प्रयासो वृथा ॥ ७३ ॥
अयं भावः स्वसन्तानपुत्र्यादींश्च विवाहयेत् ।
परवर्गविवाहांश्च कारयेन्नानुमोदयेत् ॥ ७४ ॥
इत्वरिका स्यात्पुंश्चली सा द्विधा यावयोरिता ।
एकाथ परिगृहीता स्यादपरिगृहीता परा ॥ ७५ ॥

ताभ्यां सरागवागादिपुरस्सरोऽथवा रतम् ।
दोषोऽतीचारसंज्ञोऽपि ब्रह्मचर्यस्य हानये ॥ ७६ ॥

दोषप्रसङ्गभीरोरस्य स्वप्नादौ शुक्रविच्युतिः ।
विनापि कामिनीसङ्गात्क्रिया वा कुत्सितोदिता ॥ ७७ ॥

कामतीव्राभिनिवेशो दोषोऽतीचारसंज्ञकः ।
दुर्दान्तवेदनाक्रान्तस्मरसंस्कारपीडितः ॥ ७८ ॥

ननु चास्ति न दुर्वारो दुस्त्याज्या मानसी क्रिया ।
ब्रह्मव्रतगृहीतस्य सतोऽत्र वद का गतिः ॥ ७९ ॥

उच्यते गतिरस्यास्ति पूर्वे सूत्रे प्रमाणिता ।
यथा कथंचित् स्थाप्या नीता ब्रह्मव्रतक्रिया ॥ ८० ॥

एवं ब्रह्मव्रतं साङ्गमतिचारविवर्जितम् ।
पालनीयं सदाचारैः स्वर्गमोक्षसुखप्रदम् ॥ ८१ ॥

यथाविपरिमाणस्य सद्विधिश्चाधुनोच्यते ।
सति यत्नोदिताना स्याद्व्रतानां स्थितिमन्वति ॥ ८२ ॥

मुनिभिः सर्वतस्त्याज्यं तृणमात्रपरिग्रहम् ।
तत्संख्या गृहिभिः कार्या प्रसह्यहिंसादिहानये ॥ ८३ ॥

अवश्यं द्रविणादीनां परिमाणं च परिग्रहे ।
गृहस्थेनापि कर्तव्यं हिंसातृष्णोपशान्तये ॥ ८४ ॥

परिमाणे कृते तस्मादर्थाग्रमूर्च्छा प्रवर्तते ।
अभावान्मूर्च्छायास्तत्त्वं मुनित्वमिव गीयते ॥ ८५ ॥

तस्मादात्मोचिताद्द्रव्याद् ह्रासनं तद्वरं स्मृतम् ।
अनात्मोचितसंकल्पाद् ह्रासनं तन्निरर्थकम् ॥ ८६ ॥

अनात्मोचितसङ्कल्पाद् ह्रासनं यन्मनीषया ।
कुर्युर्यद्वा न कुर्युर्वा तत्सर्वं व्योमचित्रवत् ॥ ८७ ॥

प्रत्यग्जन्मनीदृगत्यन्ताभावलक्षणम् ।
यस्यागोऽपि परं कैश्चिदुच्यते सारवर्जितम् ॥ ८८ ॥

तत्रोत्सर्गो नृपर्यायस्थितिमात्रकृते घनम् ।
रक्षणीयं व्रतस्थैस्तैस्त्याज्यं शेषमशेषतः ॥ ८९ ॥
अपवादस्तूपात्तानां व्रतानां रक्षणं यथा ।
स्याद्वा न स्यात्तु तद्धानिः संख्यातव्यस्तथोपधिः ॥ ९० ॥
रक्षार्थं तद्व्रतस्यापि भावनाः पञ्च सम्मताः ।
भावनीयाश्च ता नित्यं यथा सूत्रेऽपि लक्षिताः ॥ ९१ ॥

तत्सूत्रं यथा–मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषय रागद्वेषवर्जनानि पञ्च ।

इन्द्रियाणि स्फुटं पञ्च पञ्च तद्विषयाः स्मृताः ।
यथास्वं तत्परित्यागभावना पञ्च नामतः ॥ ९२ ॥
पञ्चस्वेषु मनोज्ञेषु भावना रागवर्जनम् ।
अमनोज्ञेषु तेष्वेषैर्भावना द्वेषवर्जनम् ॥ ९३ ॥
अयमर्थो यदीष्टार्थसंयोगोऽस्ति शुभोदयात् ।
तदा रागो न कर्तव्यो हिरण्याद्यपकर्षता ॥ ९४ ॥
अथानिष्टार्थसंयोगो दुर्दैवाज्जायते नृणाम् ।
तदा द्वेषो न कर्तव्यो धनसंख्याव्रतैषिणा ॥ ९५ ॥
इष्टानिष्टादिशब्दार्थः सुगमत्वान्न लक्षितः ।
रागद्वेषौ प्रसिद्धौ स्तः प्रयासः सुगमे वृथा ॥ ९६ ॥
अत्रातीचारसंज्ञाः स्युः दोषाः संख्याव्रतस्य च ।
उदिताः सूत्रकारेण व्याख्या व्रतविशुद्धये ॥ ९७ ॥

सूत्रं च–क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमाः ।

क्षेत्रं स्याद्वसतिस्थानं धान्याधिष्ठानमेव वा ।
गवाद्यागारमात्रं वा स्वीकृतं यावदात्मना ॥ ९८ ॥
ततोऽतिरिक्तं लोभाम्बुदोषोत्पत्तिरतिक्रमः ।
न कर्तव्यो व्रतस्थेन कुर्वतोऽपधिलुण्ठनाम् ॥ ९९ ॥

१ स्वात्मनः ।

धान्यं तु वस्त्रादिसामान्यं सत्संख्या क्रियतां बुधैः ।
अतीचारनिवृत्त्यर्थं कार्यो नातिक्रमस्ततः ॥ १०० ॥
हिरण्यध्वनिना प्रोक्तं वज्रमौक्तिकसत्फलम् ।
तेषां प्रमाणमात्रेण क्षणान्मूर्च्छा प्रतीयते ॥ १०१ ॥
अत्र सुवर्णशब्देन ताम्रादिरजतादयः ।
संख्या तेषां च कर्तव्या श्रेयान्नातिक्रमस्ततः ॥ १०२ ॥
धनशब्दो गवाद्यर्थं स्याच्चतुष्पदवाचकः ।
विधेयं तत्परिमाणं ततो नातिक्रमो वरः ॥ १०३ ॥
धान्यशब्देन मुद्गादि यावदष्टादशकम् ।
प्रतं तत्परिमाणेन व्रतहानिरतिक्रमात् ॥ १०४ ॥
दासकर्मरता दासी क्रीता वा स्वीकृता सती ।
तत्संख्या व्रतशुद्ध्यर्थं कर्तव्या नातिक्रमात् ॥ १०५ ॥
यथा दासी तथा दासः संख्या तस्यापि श्रेयसी ।
श्रेयानतिक्रमो नैव हिंसातृष्णोपबृंहणात् ॥ १०६ ॥
कुप्यशब्दो घृताद्यर्थं तत्कांस्यं भाजनानि वा ।
तेषामप्यल्पीकरणं श्रेयसे स्याद्व्रतार्थिनाम् ॥ १०७ ॥
उक्ताः संख्याव्रतस्यास्य दोषाः संक्षेपतो मया ।
परिहार्याः प्रयत्नेन संख्याणुव्रतधारिणा ॥ १०८ ॥
प्रोक्तं सूत्रानुसारेण यथाणुव्रतपञ्चकम् ।
गुणव्रतत्रयं वक्तुमुत्सहेदधुना कविः ॥ १०९ ॥
दिग्देशानर्थदण्डानां विरतिः स्याद्गुणव्रतम् ।
एकत्वादिरतेश्चापि त्रेधा विषयभेदतः ॥ ११० ॥
दिग्विरतिर्यथानाम दिक्षु प्राच्यादिकासु च ।
गमनं प्रतिजानीते कृत्वा सीमानमार्हतः ॥ १११ ॥
सन्त्यत्र विषयाः सीम्नः वननीवृन्नगापगाः ।
अनु तानवधिं कृत्वा गच्छेदर्वाक् तदादिः ॥ ११२ ॥

पूर्वस्यां दिशि गच्छामि यावद्गङ्गाम्बु केवलम् ।
तद्बहिर्वपुपातेन न गच्छामि सचेतनः ॥ ११३ ॥
एवं कृतप्रतिज्ञस्य संवरः पापकर्मणः ।
तद्बहिः सर्वहिंसाया अभावात्तन्मुनेरिव ॥ ११४ ॥
परिपाल्यानयोरीत्यां पश्चिमायां दिशि स्मृताः ।
मर्यादोर्ध्वमधश्चापि दक्षिणस्यां विदिक्षु च ॥ ११५ ॥
तत्करणे महद्भूयो हिंसा तृष्णाद्यपात्ययात् ।
करणीयं ततोऽवश्यं श्रावकैर्व्रतधारिभिः ॥ ११६ ॥
सन्ति तत्राप्यतीचाराः पञ्चेति सूत्रसाधिताः ।
सावधानतया त्याज्यास्तेपि तद्व्रतसिद्धये ॥ ११७ ॥

तत्सूत्रं यथा—ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रम क्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तराधानानि ।

यथैवाद्रीशरारोहे भवेदूर्ध्वव्यतिक्रमः ।
अगाधभूप्रवेशाद्विस्यातोऽधोव्यतिक्रमः ॥ ११८ ॥
कश्चिद्दिक्कोणदेशादौ क्षेत्रे दीर्घाप्यवर्तिनि ।
कारणाद्गमनं लोभाद्भवेत्तिर्यग्व्यतिक्रमः ॥ ११९ ॥
यथा गव्यमिम क्रोश शतं यावन्निर्मम ।
क्रोशा साष्टपदेशीया क्षेत्रवृद्धिश्च दूषणम् ॥ १२० ॥
स्मृतं स्मृत्यन्तराधानं विस्मृतं च पुनः स्मृतम् ।
दूषणं दिग्विरते स्यादनिर्णीतमियत्तया ॥ १२१ ॥
योजिता देशविरतिर्यावत्काल्यात्मवर्तिनी ।
तन्मर्यादाः क्षणं यामदिनमासर्तुवत्सराः ॥ १२२ ॥
तद्विषयो गतिस्त्यागस्तथा चाशनवर्जनम् ।
मैथुनस्य परित्यागो यद्वा मौनादिधारणम् ॥ १२३ ॥
यथात्र यदि गच्छामि ग्राम्यावेदेशि केवलम् ।
कारणामापि गच्छामि नोत्तरदिग्विनयेवतान् ॥ १२४ ॥

यथा वा यावद्दशाहिं भूयान्मेऽनशनं महत् ।
यद्वा तत्रापि रात्रौ च ब्रह्मचर्यं ममास्तु सत् ॥ १२५ ॥
यथा वा वर्षासमये चातुर्मासेऽत्र योगिवत् ।
इतः स्थानान्न गच्छामि क्वापि देशान्तरे जवात् ॥ १२६ ॥
परिपाट्यानया योज्या वृत्तिः स्याद्बहुविस्तरा ।
कर्तव्याय यथाशक्ति मातेव हितकारिणी ॥ १२७ ॥
पञ्चातिचारसंज्ञाः स्युर्दोषाः सूत्रोदिता बुधैः ।
देशविरतिरूपस्य व्रतस्यापि मलप्रदाः ॥ १२८ ॥
तत्सूत्रं यथा—आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपातपुद्गलक्षेपाः ।
आत्मसङ्कल्पितादेशाद्बहिःस्थितस्य वस्तुनः ।
आनयेनीप्सितैः किञ्चिद् प्रापणानयनं मतम् ॥ १२९ ॥
इदं केनाप्यनुक्तेन स्वयं तवानयाम्यहम् ।
एवं कुर्विति नियोगो प्रेष्यप्रयोग उच्यते ॥ १३० ॥
शब्दानुपातनामापि दोषोऽतीचारसंज्ञकः ।
संदेशकारणं दूरे तद्व्यापारकरान् प्रति ॥ १३१ ॥
दोषो रूपानुपाताख्यो व्रतस्यामुष्य विद्यते ।
स्वाङ्गाङ्गदर्शनं यद्वा समस्या चक्षुरादिना ॥ १३२ ॥
अस्ति पुद्गलनिक्षेपनामा दोषोऽत्र संयमे ।
लोष्टो वा क्षेपणं तत्र पत्रिकादेर्भवासमाम् ॥ १३३ ॥
पञ्चातीचारनिर्मुक्तं स्याद्देशविरतिव्रतम् ।
कर्तव्यं व्रतिनावश्यं हिंसातृष्णादिहानये ॥ १३४ ॥
व्रतं चानर्थदण्डस्य विरतिर्गृहमेधिनाम् ।
द्वादशव्रतवृक्षाणामेतन्मूलमिवाद्वयम् ॥ १३५ ॥
एकस्यानर्थदण्डस्य परित्यागो न देहिनाम् ।
व्रतित्वं स्यादनायासाप्राप्यवायासकोटिभिः ॥ १३६ ॥
स्वार्थं चान्यस्य संन्यासं विना कुर्यान्न कर्म सत् ।
स्वार्थश्चावश्यमात्रात्मा स्वार्थः सर्वो न सर्वतः ॥ १३७ ॥

यथानाम विनोदार्थं जलादि वनक्रीडनम् ।
कायेन मनसा वाचा तद्भेदा बहवः स्मृताः ॥ १३८ ॥
कृतकारितानुमननैस्त्रिकाल विषयं मनोवचःकायैः ।
परिहृत्य कर्मसकलं परमं नैष्कर्म्यमवलम्बेत् ॥ १३९ ॥
दोषाः सूत्रोदिताः पञ्च सन्त्यतीचारसंज्ञकाः ।
अनर्थदण्डत्यागस्य व्रतस्यास्यापि दूषिकाः ॥ १४० ॥

तत्सूत्रं यथा—कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्यासमीक्ष्याधिकरणोपभोग-परिभोगानर्थक्यानि ।

अस्ति कन्दर्पनामापि दोषः प्रोक्तव्रतस्य यः ।
रागोद्रेकात्प्रहासादिमिश्रोवाग्योग इत्यपि ॥ १४१ ॥
दोषः कौत्कुच्यसंज्ञोस्ति दुष्टकायक्रियादियुक् ।
पराङ्गस्पर्शनं स्वाङ्गैरर्थादन्याङ्गनादिषु ॥ १४२ ॥
मौखर्यदूषणं नाम रतप्रायं वचःशतम् ।
अतीव गर्हितं धाष्ट्यार्द्यद्वात्यर्थं प्रजल्पनम् ॥ १४३ ॥
असमीक्ष्याधिकरणमनल्पीकरणं हि यत् ।
अर्थात्स्वार्थमसमीक्ष्य वस्तुनोऽनवधानतः ॥ १४४ ॥
यथाहारकृते यावज्जलेनास्ति प्रयोजनम् ।
नेतव्यं तावदेवात्र दूषणं चान्यथोदितम् ॥ १४५ ॥
भुज्यते सकृदेवात्र स्यादुपभोगसंज्ञकः ।
यथा स्रक्चन्दनं माल्यमन्नपानौषधादि वा ॥ १४६ ॥
परिभोगः समाख्यातो भुज्यते यत्पुनः पुनः ।
यथा योषिदलंकारवस्त्रागारगजादिकम् ॥ १४७ ॥
आनर्थक्यं तयोरेव स्यात्संभविनोर्द्वयोः ।
अनात्मोचितसंख्यायाः करणादपि दूषणम् ॥ १४८ ॥
यथा दीनश्च दुर्भाग्यो वस्तुमंस्यां चिकीर्षति ।
गृह्णात्यदाश्चतं यावत्र गृह्णाति ततोधिकम् ॥ १४९ ॥

निर्दिष्टानर्थदण्डस्य विरतिर्नाम्ना गुणव्रतम् ।
अतीचारविनिर्मुक्तं नूनं निःश्रेयसे भवेत् ॥ १५० ॥
शिक्षाव्रतानि चत्वारि सन्ति स्याद्गृहमेधिनाम् ।
इतस्तान्यपि वक्ष्यामि पूर्वसूत्रानतिक्रमात् ॥ १५१ ॥

तत्सूत्रं यथा–सामायिकप्रोषधोपवासोपभोगपरिभोगपरिमाणातिथिसंविभागव्रतसम्पन्नश्च ।

अर्थात्सामायिकः प्रोक्तः साक्षात्साम्यावलम्बनम् ।
तदर्थं व्यवहारत्वात्पाठः कालासनादिमान् ॥ १५२ ॥

तत्सूत्रं यथा–

समता सर्वभूतेषु संयमे शुभभावना ।
आर्तरौद्रपरित्यागस्तद्धि सामायिकव्रतम् ॥ १ ॥
तदर्थात्मावरत्वाय कुर्यादात्मादिचिन्तनम् ।
एकोऽहं शुद्ध चिद्रूपो नाहं पौद्गलिकं वपुः ॥ १५४ ॥
चिन्तनीयं मनश्चित्ते सूक्ष्मं षड्द्रव्यलक्षणम् ।
ततः संसारिणो मुक्त्वा जीवाश्चिन्त्या द्विधार्थतः ॥ १५५ ॥
तत्र संसारिणो जीवाश्चतुर्गति निवासिनः ।
कर्मनोकर्मयुक्तत्वाद् यावितोऽतीव दुःखिताः ॥ १५६ ॥
पूर्वकर्मोदयाद्भावस्तेषां रागादिसंयुतः ।
जायते नूतनं कर्म तस्मादन्योऽस्ति कर्मणाम् ॥ १५७ ॥
एवं पूर्वापरीभूतो भावश्चान्योन्यहेतुकः ।
शक्यते न पृथक् कर्तुं यावत्संसारसंज्ञकः ॥ १५८ ॥
एवं चाऽनादिसन्तानाद्भ्रमतिस्म चतुर्गतौ ।
जन्ममृत्युजरातङ्कदुःखाक्रान्तः स प्राणभृत् ॥ १५९ ॥
तत्र कश्चन भव्यात्मा काललब्धिवशादिह ।
कृत्स्नकर्मक्षयं कृत्वा संसाराद्धि प्रमुच्यते ॥ १६० ॥
अस्ति सद्दर्शनज्ञान चारित्राण्यत्र कारणम् ।

हेतुस्तेषां समुत्पत्तौ काललब्धिः परं स्वतः ॥ १६१ ॥
इत्यादि जगत्सर्वं स्वं चिन्तयेत्तन्मुहुर्मुहुः ।
नूनं संवेगवैराग्यवर्द्धनाय महामतिः ॥ १६२ ॥

उक्तं च–जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थम् ।

चिन्तनानन्तरं चेति चिन्तयेदात्मनो गतिम् ।
कोऽहं कुतः समायातः क यास्यामि जयादितः ॥ १६३ ॥
हेयं किं किमुपादेयं मम शुद्धचिदात्मनः ।
कर्तव्यं किं मया त्याज्यमधुना जीवनावधि ॥ १६४ ॥
इति चिन्तयतस्तस्य संवेगो जायते गुणः ।
संसारभयभोगेभ्यो वैराग्यं चोपबृंहति ॥ १६५ ॥
ततः साधुसमाधिश्च सामायिकव्रतान्वितः ।
ततः सामायिकीं क्रियां कुर्याद्वा शल्यवर्जितः ॥ १६६ ॥
तज्जिनेन्द्रगुणस्तोत्रं पठेत्पद्यादिलक्षणम् ।
सिद्धानामथ साधूनां कुर्यात्सोऽपि गुणस्तुतिम् ॥ १६७ ॥
नमोऽर्हत्कारसीं स्तुत्वा जगच्छान्तिमधीय च ।
क्षणं ध्याननिश्चलो भूत्वा चिन्तयेच्छुद्धचिन्मयम् ॥ १६८ ॥
ततः सम्पूर्णतां नीत्वा ध्यानं कालानतिक्रमात् ।
संस्तुतानां यथाशक्ति तत्पूजां कर्तुमर्हति ॥ १६९ ॥
स्नानं कुर्यात्प्रयत्नेन संशुद्धैः प्रासुकोदकैः ।
गृह्णीयाद्धौतवस्त्राणि दृष्टिपूतानि प्रायशः ॥ १७० ॥
ततः शनैः शनैर्गत्वा स्वसद्मस्थजिनालये ।
द्रव्याण्यष्टौ जलादीनि सम्यगादाय भाजने ॥ १७१ ॥
तत्रस्थान् जिनबिम्बांश्च सिद्धयन्त्रान् समर्चयेत् ।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयं स्थाप्य समर्चयेत् ॥ १७२ ॥
दशानपि यथाशक्ति गुणानभ्यर्चयेद्व्रती ।
अत्र संक्षेपमात्रत्वादुक्तमुक्तमनो मया ॥ १७३ ॥

अस्त्यत्र पञ्चधा पूजा मुख्यमाह्वानमात्रिका ।
प्रतिष्ठापनसंज्ञाय सन्निधीकरणं तथा ॥ १७४ ॥
ततः पूजनमत्रास्ति ततो नाम विसर्जनम् ।
पञ्चधेयं समाख्याता पञ्चकल्याणदायिनी ॥ १७५ ॥
तद्विधिश्चात्र निर्दिष्टुमर्हमप्युपलक्षितः ।
स्मृते संक्षेपसंकेताद्विधेश्चातीव विस्तरात् ॥ १७६ ॥
एवमित्याद्यवश्यंस्यात्कर्तव्यं व्रतधारिभिः ।
अस्ति चेदात्मसामर्थ्यं कुर्याच्चाप्यपरं विधिम् ॥ १७७ ॥
अर्घयेच्चैत्यवेश्मस्थानर्हद्बिम्बादिकानपि ।
सूर्युपाध्यायसाधूंश्च पूजयेद्भक्तितो व्रती ॥ १७८ ॥
ततो मुनिमुखोद्गीर्णं श्रौतं वा सद्मसूरिभिः ।
धर्मस्य श्रवणं कुर्यादादराद् ज्ञानचक्षुषे ॥ १७९ ॥
गृहकार्यं ततः कुर्यादात्मनिन्दादिमानयम् ।
ततो माध्याह्निके प्राप्ते भूयः कुर्यात्तु विधिम् ॥ १८० ॥
अतिथिसंविभागस्य भावनां भावयन्नपि ।
मध्याह्नादीपदर्शांगे नात्र कालाद्यतिक्रमे ॥ १८१ ॥
भोजयित्वा स्वयं यावत्क्षणं शेते सुखाशया ।
धारयेद्धर्मभवन पूर्वाह्णे यच्छ्रुतं स्मृतेः ॥ १८२ ॥
ऊहापोहोऽपि कर्तव्यः सार्धं चापि सधर्मिभिः ।
अस्ति चेद् ज्ञानसामर्थ्यं कार्यं शास्त्रावलोकनम् ॥ १८३ ॥
गृहकार्यं ततः कुर्याद्भूयः संध्यावधेरिह ।
ततः सायंतने प्राप्ते कुर्यात्सामायिकीं क्रियाम् ॥ १८४ ॥
विश्रापराह्णके काले जिनबिम्बान् प्रागर्चयेत् ।
ततः सामायिकं कुर्यादुक्तेन विधिना व्रती ॥ १८५ ॥
ततश्च शयनं कुर्याद्यथानिद्रं यथोचितम् ।
निशीथे पुनरुत्थाय कुर्यात्सामायिकीं क्रियाम् ॥ १८६ ॥

तत्रार्द्धरात्रके पूजां न कुर्यादर्हतामपि ।
हिंसाहेतोरवश्यं स्याद्रात्रौ पूजाविवर्जनम् ॥ १८७ ॥
एवं प्रवर्तमानश्च सागारो व्रतवानिह ।
स्वर्गादिसम्पदो भुक्त्वा निर्वाणपदभाग्भवेत् ॥ १८८ ॥
सामायिकव्रतस्यापि पञ्चातीचारसंज्ञकाः ।
दोषाः सन्ति प्रसिद्धास्ते त्याज्याः सूत्रोदिता यथा ॥ १८९ ॥
तत्सूत्रं यथा—योगदुष्प्रणिधानानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ।
सामायिकादितोन्यत्र मनोवृत्तिर्यदा भवेत् ।
मनोदुष्प्रणिधानाख्यो दोषोतीचारसंज्ञकः ॥ १९० ॥
वाग्योगोपि ततोन्यत्र हुङ्कारादिप्रवर्तते ।
वचोदुष्प्रणिधानाख्यो दोषोतीचारसंज्ञकः ॥ १९१ ॥
काययोगस्ततोन्यत्र हस्तसंज्ञादिदर्शने ।
वर्तते तदतीचार. कायदुष्प्रणिधानकः ॥ १९२ ॥
यदाऽऽलस्यतया मोहात्कारणाद्वा प्रमादतः ।
अनुत्साहतया कुर्यात्तदाऽनादरदूषणम् ॥ १९३ ॥
अस्ति स्मृत्यनुपस्थानं दूषणं प्रकृतस्य यत् ।
न्यूनं वर्णैः पदैर्वाक्यैः पठ्यते यत्प्रमादतः ॥ १९४ ॥
स्यात् सामायिकं नाम व्रतं चाणुव्रतार्थिनाम् ।
अतीचारविनिर्मुक्तं भवसंसारविच्छिदे ॥ १९५ ॥
स्यात्प्रोषधोपवासाख्य व्रतं च परमौषधम् ।
जन्ममृत्युजरातङ्कविध्वंसनविचक्षणम् ॥ १९६ ॥
चतुर्धादानसंन्यासो यावद्यामाश्च षोडश ।
स्थितिर्निरवद्यस्थाने व्रतं प्रोषधसंज्ञकम् ॥ १९७ ॥
कर्तव्यं तदवश्यं स्यात्पर्वण्यां प्रोषधव्रतम् ।
अष्टम्यां च चतुर्दश्यां यथाशक्त्यपि चान्यथा ॥१९८॥
धारणाहि त्रयोदश्यां मध्याह्ने कृतभोजनः ।

विविक्तस्थानं समासाद्य जीवागं निरवद्यकम् ॥ १९९ ॥
तत्रैव निवसेद् रात्रौ जागरूको यथाबलम् ।
प्रातरादिदिनं कृत्स्नं धर्मध्यानैर्नयेद्व्रती ॥ २०० ॥
जलपानं निषिद्धं स्यान्मुनिवत्तत्र प्रोषधे ।
न निषिद्धाऽनिषिद्धा स्यादर्हत्पूजा जलादिभिः ॥ २०१ ॥
यदा सा क्रियते पूजा न दोषोऽस्ति तदापि वै ।
न क्रियते सा तदाप्यत्र दोषो नास्तीह कश्चन ॥ २०२ ॥
एवमित्यादि तत्रैव नीत्वा रात्रिं च धर्मधीः ।
कृतक्रियोऽशनं कुर्यान्मध्याह्ने पारणादिने ॥ २०३ ॥
ब्रह्मचर्यं च कर्तव्यं पारणादि दिनत्रयम् ।
परयोषिन्निषिद्धा प्रागिदं स्वात्मकलत्रके ॥ २०४ ॥
स्युः प्रोषधोपवासस्य दोषाः पञ्चोदिता स्मृतौ ।
निरस्यास्ते प्रयत्नैस्तैः सागारैरपि यत्नतः ॥ २०५ ॥

तत्सूत्रं यथा—अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादानसंस्तरोपक्रमणानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ।

जीवाः सन्ति न वा सन्ति कर्तव्यं प्रत्यवेक्षणम् ।
चक्षुर्व्यापारमात्रं स्यात्सूत्रात्तल्लक्षणं यथा ॥ २०६ ॥
प्रमार्जनं च मृदुभिर्यथोपकरणैः कृतम् ।
उत्सर्गादानसंस्तरविषयं चोपबृंहणम् ॥ २०७ ॥
अप्रत्यवेक्षितं तत्र यथा स्यादप्रमार्जितम् ।
मूत्राद्युत्सर्ग एवास्ति दोषः प्रोषधसंयमे ॥ २०८ ॥
यथोत्सर्गस्तथादाने संस्तरोपक्रमस्तथा ।
समानाश्च व्यतीचारा दोषाः प्रोक्ता व्रतस्य ते ॥ २०९ ॥
ज्ञेयः पूर्वोक्तसंदर्भादनुत्साहोऽप्यनादरः ।
प्रोषधे पर्वणि स्याच्च दोषोऽतीचारसंज्ञकः ॥ २१० ॥
स्यात्स्मृत्यनुपस्थानं दूषणं प्रोषधस्य तत् ।

अनेकाश्यं तदेव स्याल्लक्षणादपि लक्षणम् ॥ २११ ॥
प्रोषधोपवासस्यात्र लक्षणं कथितं मया ।
इतः संख्योपभोगस्य परिभोगस्य चोच्यते ॥ २१२ ॥
निर्दिष्टं लक्षणं पूर्वं परिभोगोपभोगयोः ।
तयोः संख्या प्रकर्तव्या सागारैर्व्रतधारिभिः ॥ २१३ ॥
सन्ति तत्राप्यतीचाराः पञ्च सूत्रोदिता बुधैः ।
परिहार्याः प्रयत्नेन श्रावकैर्धर्मवेदिभिः ॥ २१४ ॥
तत्सूत्रं यथा–सचित्तसम्बन्धसम्मिश्राभिषवदुःपक्वाहाराः ।
विकीर्यन्नपि तत्संख्यां सचित्तं यो न मुञ्चति ।
दोषः सचित्तसंज्ञोस्य भवेत्संख्याव्रतस्य सः ॥ २१५ ॥
तथाविधोपि यः कश्चिच्चेतनाधिष्ठितं च यत् ।
वस्तुसंख्यामकुर्वाणो भवेत्सम्बन्धदूषणम् ॥ २१६ ॥
मिश्रितं च सचित्तेन वस्तुजातं च वस्तुना ।
स्वीकुर्वाणोप्यतीचारं सन्मिश्राख्यं च न त्यजेत् ॥ २१७ ॥
आहारं स्निग्धमाहित्रि ? दुर्जरं जठराग्निना ।
असंख्यातव्रतस्तस्य दोषो दुष्पक्वसंज्ञकः ॥ २१८ ॥
उक्तातिचारनिर्मुक्त परिभोगोपभोगयोः ।
संख्याव्रतं गृहस्थानां श्रेयसे भवति ध्रुवम् ॥ २१९ ॥
अतिथिसंविभागाख्यं व्रतमस्ति व्रतार्थिनाम् ।
सर्वव्रतशिरोरत्नमिहामुत्र सुखप्रदम् ॥ २२० ॥
ईषन्न्यूने च मध्याह्ने कुर्याद् द्वारावलोकनम् ।
दातुकामः सुपात्राय दानीयाय महात्मने ॥ २२१ ॥
तत्पात्रं त्रिविधं ज्ञेयं तत्राप्युत्कृष्टमादिमम् ।
द्वितीयं मध्यमं ज्ञेयं तृतीयं तु जघन्यकम् ॥ २२२ ॥

उक्तं च ।

उत्कृष्टपात्रमनगारमणुव्रताढ्यं
मध्यं व्रतेन रहितं सुदृशं जघन्यम् ।

निर्दर्शनं व्रतनिकाययुतं कुपात्रं
युग्मोज्झितं नरमपात्रमिदं हि विद्धि ।
एतेष्वन्यतमं प्राप्य दानं देयं यथाविधि ।
प्रासुकं शुद्धमाहारं विनयेन समन्वितम् ॥ २२३ ॥
पात्रालाभे यथाविधि पश्चात्तापपरो भवेत् ।
अधमं विफलं जन्म भूयोभूयश्च चिन्तयेत् ॥ २२४ ॥
कुपात्रायाप्यपात्राय दानं देयं यथायथम् ।
केवलं तत्कृपादानं देयं पात्रधिया न हि ॥ २२५ ॥
अस्ति सूत्रोदितं शुद्धं व्रतातीचारपञ्चकम् ।
अतिथिसंविभागाख्यव्रतरक्षार्थं परित्यजेत् ॥ २२६ ॥

तत्सूत्रं यथा—सचित्तनिक्षेपापिधानपरव्यपदेशमात्सर्यकालातिक्रमाः ।

सचित्ते पद्मपत्रादौ निक्षेपोऽन्नादिवस्तुनः ।
दोषः सचित्तनिक्षेपो भवेदन्वर्थसंज्ञकः ॥ २२७ ॥
अपिधानमावरणं सचित्तेन कृतं यदि ।
स्यात्सचित्तापिधानाख्यं दूषणं व्रतधारिणः ॥ २२८ ॥
आस्माकीनं गुडद्राक्षं त्वं प्रयच्छेति योजनम् ।
दोषः परोपदेशस्य करणाख्यो व्रतात्मनः ॥ २२९ ॥
प्रयच्छन्नप्यहमादि गर्वमुद्वहते यदि ।
दूषणं लभते सोऽपि महामात्सर्यसंज्ञकम् ॥ २३० ॥
ईषन्न्यूनाथ मध्यान्हदानकालाद्यथायथा ।
ऊर्ध्वं तद्भावनादेतोर्दोषः कालव्यतिक्रमः ॥ २३१ ॥
एतैर्दोषैर्विनिर्मुक्तं पात्रेभ्यो दानमुत्तमम् ।
अतिथिसंविभागाख्यव्रतं तस्य सुखाप्तये ॥ २३२ ॥
यथासमानमाख्यातं शिक्षाव्रतचतुष्टयम् ।
अस्ति सल्लेखना कार्या तद्वतो मारणान्तिकी ॥ २३३ ॥
सोऽस्ति सल्लेखनाकालो जीर्णे वयसि चान्यथा ।

दैवाद्घोरोपसर्गेऽपि रोगेऽसाध्यतरेऽपि च ॥ २३४ ॥
क्रमेणाराधनाशास्त्रप्रोक्तेन विधिना व्रती ।
वपुषश्च कषायाणां जयं कृत्वा तनुं त्यजेत् ॥ २३५ ॥
धन्यास्ते वीरकर्माणो ज्ञानिनस्ते व्रतावहाः ।
येषां सल्लेखनामृत्युः निष्प्रत्यूहतया भवेत् ॥ २३६ ॥
दोषाः सूत्रोदिताः पञ्च सन्त्यतीचारसंज्ञकाः ।
अन्त्यसल्लेखनायास्ते मंतव्याः पारलौकिकैः ॥ २३७ ॥

तत्सूत्रं यथा–जीवितमरणाशंसा मित्रानुरागसुखानुबन्धनिदानानि ।

आशंसा जीविते मोहाद् यथेच्छेदपि जीवितम् ।
यदि जीव्ये वरं तावद्दोषोऽयं यत्समरयते ॥ २३८ ॥
आशंसा मरणे चापि यथेच्छेन्मरणं द्रुतम् ।
वरं मे मरणं तूर्णं मुक्तः स्यां दुःखसंकटात् ॥ २३९ ॥
दोषो मित्रानुरागाख्यो यथेच्छेन्मरणं क्वचित् ।
पुरस्तान्मित्रतो मृत्युर्वरं पश्चान्न मे वरम् ॥ २४० ॥
दोषः सुखानुबन्धाख्यो यथात्रासमीह दुःखवान् ।
मृत्वापि व्रतमाहात्म्याद् भविष्येऽहं सुखी क्वचित् ॥ २४१ ॥
दोषो निदानबन्धाख्यो यथेच्छेन्मरणं कुधीः ।
भवेयं व्रतमाहात्म्यादस्य घाताय तत्परः ॥ २४२ ॥
यदि वा मरणं चेच्छेन्मोहोद्रेकात्स मूढधीः ।
भवेयं चोपकाराय मित्रस्यास्य व्रतादितः ॥ २४३ ॥
यदि वा मरणं चेच्छेदज्ञानाद्वा सुखाशयाः ।
भूयान्मे व्रतमाहात्म्यात्स्वर्गश्रीरद्विवादिनी ॥ २४४ ॥
एतैर्दोषैर्विनिर्मुक्तमन्त्यसल्लेखनात्मकम् ।
स्वर्गापवर्गसौख्यानां सुधापानाय जायते ॥ २४५ ॥

तत्र हेतुवशात्क्वापि कुर्यात्कुर्यान्नवा क्वचित् ।
सातिचारव्रतत्वाद्वा तथापि न व्रतक्षतिः ॥ ७ ॥
अत्रावश्यं त्रिकालेऽपि कार्यं सामायिकं जगत् ।
अन्यथा व्रतहानिः स्याद्‌तीचारस्य का कथा ॥ ८ ॥
अन्यत्राप्येवमित्यादि यावदेकादशस्थितिः ।
व्रतान्येव विशिष्यन्ते नार्थादर्थान्तरं क्वचित् ॥ ९ ॥
शोभतेऽतीव संस्कारात् साक्षादाकरजो मणिः ।
संस्कृतानि व्रतान्येव निर्जराहेतवस्तथा ॥ १० ॥
स्यात्प्रोषधोपवासाख्या चतुर्थी प्रतिमा शुभा ।
कर्तव्या निर्जराहेतुः संवरस्यापि कारणम् ॥ ११ ॥
अस्त्यत्रापि समाधानं वेदितव्यं तदुक्तवत् ।
सातिचारं च तत्र स्यादत्रातीचारवर्जितम् ॥ १२ ॥
द्वादशव्रतमध्येऽपि विद्यते प्रोषधं व्रतम् ।
तदेवात्र समाख्यानं विशेषस्तु विवक्षितः ॥ १३ ॥
अवश्यमपि कर्तव्यं चतुर्थप्रतिमाव्रतम् ।
कर्मकाननकोटीनामस्ति दावानलोपमम् ॥ १४ ॥
पञ्चमी प्रतिमा चास्ति व्रतं सागारिणामिह ।
तत्सचित्तपरित्यागलक्षणं भक्ष्यगोचरम् ॥ १५ ॥
इतःपूर्वं कदाचिद्वै सचित्तं वस्तु भक्षयेत् ।
इतः परं स नाश्नुयात्सचित्तं तज्जलाद्यपि ॥ १६ ॥
भक्षणेऽत्र सचित्तस्य नियमो न तु स्पर्शने ।
तत्स्वहस्तादिना कृत्वा प्रासुकं चात्र भोजयेत् ॥ १७ ॥
रात्रिभक्तपरित्यागलक्षणा प्रतिमास्ति सा ।
विख्याता संख्यया षष्ठी सद्मस्थश्रावकोचिता ॥ १८ ॥
इतःपूर्वं कदाचिद्वा पयःपानादि स्यान्निशि ।
इतः परं परित्यागः सर्वथा पयसोऽपि तत् ॥ १९ ॥

सूक्ष्मं चापि न गृह्णीयादीषत्सावद्यकारणम् ॥ ५७ ॥
कौपीनोपधिमात्रत्वाद् विना वाचंयमिक्रिया ।
विद्यते चैलकस्यास्य दुर्द्धरं व्रतधारणम् ॥ ५८ ॥
तिष्ठेच्चैत्यालये संघे वने वा मुनिसन्निधौ ।
निरवद्ये यथास्थाने शुद्धे शून्यमठादिषु ॥ ५९ ॥
पूर्वोदितक्रमेणैव कृतकर्मावधावनात् ।
ईषन्मध्याह्नकाले वै भोजनार्थमटेत्पुरे ॥ ६० ॥
ईर्यासमितिसंशुद्धः पर्यटेद्गृहसंख्यया ।
द्वाभ्यां पात्रस्थानीयाभ्यां हस्ताभ्यां परमश्नुयात् ॥ ६१ ॥
दद्याद्धर्मोपदेशं च निर्व्याजं मुक्तिसाधनम् ।
तपो द्वादधा कुर्यात्प्रायश्चित्तादि चाचरेत् ॥ ६२ ॥
क्षुल्लकः कोमलाचारः शिखासूत्राङ्कितो भवे...
एकवस्त्रं सकौपीनं वस्त्रपिच्छकमण्डलुम् ।
भिक्षापात्रं च गृह्णीयात्कांस्यं यद्वाप्ययोमय
एषणादोषनिर्मुक्तं भिक्षाभोजनमेकशः ॥ ६
क्षौरं श्मश्रुशिरोलोम्नां शेषं पूर्ववदाचरेत् ।
अतीचारे समुत्पन्ने प्रायश्चित्तं समाचरेत् ॥
यथा निर्दिष्टकाले स भोजनार्थं च पर्यटेत्
पात्रे भिक्षां समादाय पञ्चागारादिहालिवत्
तत्राप्यन्यतमे गेहे दृष्ट्वा प्रासुकमम्बुकम् ।
क्षणं चातिथिभागाय संप्रेक्ष्यार्थं च भोजये
दैवात्पात्रं समासाद्य दद्याद्दानं गृहस्थवत् ।
तच्छेषं यत्स्वयं भुंक्ते नोचेत्कुर्यादुपोषितम्
किञ्च गन्धादिद्रव्याणामुपलब्धौ सधर्मिभिः
अर्हद्बिम्बादिसाधूनां पूजा कार्या मुदात्मना
किंत्वत्र साधकाः केचित्केचिद्गृहरताश्रयाः पु

सूक्ष्मं चापि न गृह्णीयादीषत्सावद्यकारणम् ॥ ५७ ॥
कौपीनोपधिमात्रत्वाद् विना वाचंयमिक्रिया ।
विद्यते चैलकस्यास्य दुर्द्धरं व्रतधारणम् ॥ ५८ ॥
तिष्ठेच्चैत्यालये संघे वने वा मुनिसन्निधौ ।
निरवद्ये यथास्थाने शुद्धे शून्यमठादिषु ॥ ५९ ॥
पूर्वोदितक्रमेणैव कृतकर्मावधावनात् ।
ईषन्मध्याह्नकाले वै भोजनार्थमटेत्पुरे ॥ ६० ॥
ईर्यासमितिसंशुद्धः पर्यटेद्गृहसंख्यया ।
द्वाभ्यां पात्रस्थानीयाभ्यां हस्ताभ्यां परमश्नुयात् ॥ ६१ ॥
दद्याद्धर्मोपदेशं च निर्व्याजं मुक्तिसाधनम् ।
तपो द्वादशधा कुर्यात्प्रायश्चित्तादि चाचरेत् ॥ ६२ ॥
क्षुल्लकः कोमलाचारः शिखासूत्राङ्कितो भवेत् ।
एकवस्त्रं सकौपीनं वस्त्रपिच्छकमण्डलुम् ॥ ६३ ॥
भिक्षापात्रं च गृह्णीयात्कांस्यं यद्वाप्ययोमयम् ।
एषणादोषनिर्मुक्तं भिक्षाभोजनमेकशः ॥ ६४ ॥
क्षौरं श्मश्रुशिरोलोम्नां शेषं पूर्ववदाचरेत् ।
अतीचारे समुत्पन्ने प्रायश्चित्तं समाचरेत् ॥ ६५ ॥
यथा निर्दिष्टकाले स भोजनार्थं च पर्यटेत् ।
पात्रे भिक्षां समादाय पञ्चागाराद्दिहालिवत् ॥ ६६ ॥
तत्राप्यन्यतमे गेहे दृष्ट्वा प्रासुकमम्बुकम् ।
क्षणं चातिथिभागाय संप्रेक्ष्याद्यं च भोजयेत् ॥ ६७ ॥
दैवात्पात्रं समासाद्य दद्यादानं गृहस्थवत् ।
तच्छेषं यत्स्वयं भुंक्ते नोचेत्कुर्यादुपोषितम् ॥ ६८ ॥
किञ्च गन्धादिद्रव्याणामुपलब्धौ सधर्मिभिः ।
अर्हद्बिम्बादिसाधूनां पूजा कार्या मुदात्मना ॥ ६९ ॥
किञ्चात्र साधकाः केचित्केचिद्गूढाह्वयाः पुनः ।

वाणप्रस्थाख्यकाः केचित्सर्वे सद्वेशधारिणः ॥ ७० ॥
क्षुल्कीचरिक्रया तेषां नात्युग्रं नातीव मृदुः ।
मध्यवर्तिव्रतं तद्वत्पञ्च गुणात्मसाक्षिकम् ॥ ७१ ॥
अस्ति कश्चिद्विशेषोऽत्र साधकादिषु कारणात् ।
अगृहीतव्रताः कुर्युर्व्रताभ्यासं व्रताशयाः ॥ ७२ ॥
समभ्यस्तव्रताः केचिद् व्रतं गृह्णन्ति साहसात् ।
न गृह्णन्ति व्रतं केचिद् गृहे गच्छन्ति कातराः ॥ ७३ ॥
एवमित्यादि दिग्मात्रं मया प्रोक्तं गृहिव्रतम् ।
दृगाद्येकादशी यावत् शेषं ज्ञेयं जिनागमात् ॥ ७४ ॥
अस्त्युत्तरगुणं नाम्ना तपो द्वादशधा मतम् ।
सूत्रमात्रं प्रवक्ष्यामि देशतो व्रतधारिणाम् ॥ ७५ ॥

तत्सूत्रं यथा—अनशनावमोदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्याग विविक्तशय्यासन कायक्लेशा बाह्यं तपः ।

स्वाद्यादिचतुराहारसंन्यासोऽनशनं मतम् ।
केवलं भक्तसलिलमवमोदर्यमुच्यते ॥ ७६ ॥
त्रिचतुःपञ्चषष्ठादिवस्तूनां संख्ययाऽशनम् ।
सद्मादिसंख्यया यद्वा वृत्तिसंख्या प्रचक्ष्यते ॥ ७७ ॥
मधुरादिरसानां यत्समस्तं ह्येकमेव वा ।
परित्यागो यथाशक्ति रसत्यागः स लक्ष्यते ॥ ७८ ॥
एकान्ते विजनस्थाने सरागादिदोषोज्झिते ।
शय्या यद्वासनं भिन्नं शय्यासनमुदीरितम् ॥ ७९ ॥
आतापनादियोगेन वीर्यपर्यासनेन वा ।
वपुषः क्लेशकरणं कायक्लेशः प्रकीर्तितः ॥ ८० ॥
षोढा बाह्यं तपः प्रोक्तमेवमित्यादिलक्षणैः ।
अधुना लक्ष्यतेऽस्माभिः षोढा चाभ्यन्तरं तपः ॥ ८१ ॥

तत्सूत्रं यथा—प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्त्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम् ।

ज्झारू द्वितीयपुत्रस्य कडुराम्यस्य धर्मिणः ।
भार्या तिहुणाहि नाम्ना नाथू नाम सुतस्तयोः ॥ ३५ ॥
नाथूभार्या चिताल्ही स्यात्पुत्रो रूढा तयोर्द्वयोः ।
ज्झारू चतुर्थपुत्रस्य भार्या चुंही समाख्यया ॥ ३६ ॥
तयोः पुत्रस्तु गांगू स्याद्दात्मवंशावतंसकः ।
एते सर्वेपि जैनाः स्युः कीर्त्या संघेश्वराः स्मृताः ॥ ३७ ॥
एतेषामग्निमध्ये गृहवृषरुचिमान् फामनः संघनाथ
स्तेनोच्चैः कारितेयं सदनसमुचिता संहिता नाम लाटी ।
श्रेयोर्थं फामनीयैः प्रमुदितमनसा दानमानासनाद्यैः
स्वोपज्ञाराजमल्लेन विदितविदुषा मोपिना हैमचन्द्रे ॥ ३८ ॥

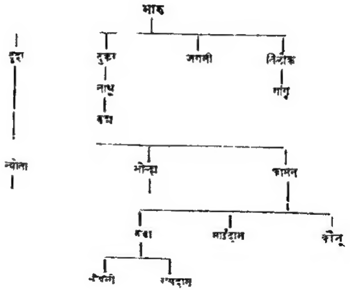
इतिश्रीवंशस्थितिवर्णनम् ।

यावद्व्योमापगाम्भो नभसि परिगतौ पुष्पदन्तौ दिवीशौ
यावत्क्षेत्रे च दिव्या प्रभवति भरतो भारती भारतेस्मिन् ।
तावत्सिद्धान्तमेतज्जयतु जिनयतेराज्ञया स्यातलक्ष्म
तावत्स्थं फामनाम्य श्रियमुपलभतां जैनसंघाधिनाथः ॥ ३९

इत्याशीर्वादः ।

यावन्मेरुर्धरापीठे यावच्चन्द्रदिवाकरौ ।
वाच्यमानं बुधैस्तावच्चिरं नन्दतु पुस्तकम् ॥ ४० ॥

ग्रन्थकर्त्तुः वंशवृक्षः ।


माहु
जगमी
कामन
माईदास
कौनू
न्योला